सारिका

वर्ष : २२; अंक : ३०४; १ से १५ मार्च, १९८२

कहानियों और कथा-जगत की जीवंत पाक्षिकी

आवरण : एम. एल. मेहता

हास्य-व्यंग्य विशेषांक

संपादक : कन्हैयालाल नंदन

मुख्य उप-संपादक : अवधनारायण मुद्गल

उप-संपादक : रमेश बत्तरा, सुरेश उनियाल,

साक्षात्कार

9. न राजनेताओं से मुझे कुछ सीखना होता है और न उन्हें मुझसे! : आर. के. लक्ष्मण के साथ देवेश ठाकुर की बातचीत
12. आर. के. लक्ष्मण के साथ एक और इंटरव्यू : विश्वनाथ

व्यंग्य रचनाएं

15. गाथा शेखचिल्ली (उपन्यास सार) : रवींद्र वर्मा
20. कविचर्या : रवींद्रनाथ त्यागी
23. शरद उवाच : उर्फ बोले शरद जोशी होशंगाबाद में
26. महादेवी अभिनंदन ग्रंथ : मुद्राराक्षस
27. उपचारक (तुर्की) : अजीज ने सिन
31. पंजाबी व्यंग्य कथाएं : अमृता प्रीतम
35. पतंगबाजी, संस्थाबाजी और अग्निहोत्रीजी : बरसानेलाल चतुर्वेदी
37. उनके अंगने में मेरा काम. . . : के.पी. सक्सेना
41. जमाना बुरा हो गया है या लोग? (परिचर्चा) : जया रमेश
44. बढ़ना महंगाई का प्रेम के मैदान में : सरोजनी प्रीतम
46. एक लेखक का किताबें सौंपना. . . : प्रेम जनमेजय
49. पीला पेंट : आर. एल. स्टीवेंसन
50. चुटकीभर गुलाल रंगकर्मियों पर : चंचल
53. हिंदी व्यंग्य का ब्रह्मचर्य आश्रम : विनोद शंकर शुक्ल
57. हिंदी की आखिरी किताब :
59. साढ़े चार गुप्त रोगी. . . : हरीश नवल
66. चलो जापान-चलो जापान (सफरनामा) : मुज्तबा हुसैन
68. तेरह सीढ़ियों का फासला : प्रभाकर द्विवेदी

लघु रचनाएं

24. बदलाव के लिए. . . : भवानी प्रसाद मिश्र
25. भूख क्यों नहीं मरती! : फ़ज़ल इमाम मल्लिक
25. संवेदना की राजनीति : नंदल हितैषी
28. सुनी-सुनायी : दुर्गाशंकर त्रिवेदी
32. गजल : रामकिशन 'असहाय'
33. गजल : प्रदीप चौबे
34. एक व्यंग्य पद : विजय किशोर मानव
36. सूचना (पोलिश) : यानुश ओसेका
38. परमीशन : अहमद अली सिद्दीकी
40. नामर्द : शैलेंद्र चौहान
42. आंख : रमेश सैलानी
45. गजल : कालिका त्रिपाठी
47. उलाहना : कीर्तिस्वरूप रावत
48 अपाहिज आदर्श : उर्मि कृष्ण
55. क्योंकि. . . : ओमप्रकाश सक्सेना
58. बेचारा लेखक : नरेंद्र उनियाल 'नन्नु', सतीश चंद्र टंडन

अन्य स्तंभ

6. पाठकों का पन्ना
8. मैं छोटी कहानियां लिखने में अनाड़ी हूं : लॉरेंस डरेल
39. तस्वीर बोलती है : फाल एस. गिरोटा

पाठकों का पन्ना

श्री दीक्षित को क्या दूं?

किसी कहानी का किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में समावेश हो जाये, यह अनुभव पहली बार हुआ जगदंबा प्रसाद दीक्षित का 'इतिवृत्त' पढ़कर. पूरा उपन्यास वास्तविकता के दौर से गुजरा है. वास्तव में आज माता-पिता, भाई-बहन आदि के रिश्ते मात्र पत्रों तक सिमट कर रह गये हैं. . .और मनुष्य के पास इतनी फुरसत ही नहीं कि वह रिश्तों को मजबूत बनाने का प्रयत्न करे. वह स्वयं अपने में ही अस्त-व्यस्त है.

मैं लगभग छह वर्षों से इंदौर से अर्थात् अपने माता-पिता से दूर था. इस बीच बंबई एवं दिल्ली जैसे महानगरों की अतिव्यस्तता से भी परिचित हुआ. एक वर्ष से अधिक समय तक दिल्ली में रहा. वहीं श्री दीक्षित के इस उपन्यास ने मुझे इस कदर उद्वेलित कर दिया कि अंततः मैं दिल्ली छोड़कर जनवरी 1982 में इंदौर आ गया. . .और वह भी शासकीय नौकरी छोड़कर! मैं यह नहीं जानता कि मेरा यह कदम कैसा रहा, परंतु अचानक मेरे अंतस में माता-पिता के पास रहने की जो भावना उठी, उसी के वशीभूत होकर मैंने यह कदम उठाया. अब मुझे यह समझ नहीं आ रहा कि श्री दीक्षित को क्या दूं—धन्यवाद या. . .?

▣ रमेश व्यास, इंदौर.

यह जिक्र और होता

कोई दो साल गुजरने को होंगे. पटना शहर से रू-ब-रू हूं. हालांकि कभी-कभार आना-जाना एक अरसे से जारी रहा है. मौजूदा दौर में इस शहर ने कभी शिद्दत से अपनेपन का इजहार किया हो, मैंने ऐसा महसूस नहीं किया. वैसे यह अब बेगानापन भी नहीं जतला पाता है मुझसे. लिहाजा अहम-नाअहम लम्हों को इस शहर ने किस कदर जिया और क्या-क्या नसीहतें देखीं, इसका दस्तावेज पेश करने में उषाकिरण खान कहां तक कामयाब हुई हैं, कहना कमोबेश मुश्किल लग रहा है. वैसे उन्होंने रिपोर्ताज को खासी जुबानी संजीदगी दी है. लगता है उनके महबूब शहर ने उन्हें बेइंतहा प्यार दिया है. मगर कहीं-कहीं कुछ ऐसी अतिशयोक्तियां हुई हैं, जिन्हें चाहकर भी नजरअंदाज नहीं कर सका.

सोचता हूं, जे. पी. की रहनुमाई में 1974 के छात्र-आंदोलन के दौरान इस शहर के माहौल में पोशीदी उमस, तंग मुहल्लों में बदरंग दिल-लगी, न्यू सेक्रेटेरिएट में चल रहे जायज-नाजायज पैंतरों के आईने में नौकरशाही का मिजाज, स्टेशन के इर्द-गिर्द बेतरतीब, बेजगह पड़े अपाहिजों की लावारिस कराह, पटना मेडिकल कॉलेज एंड हॉस्पिटल में मरीजों के प्रति बरती गयी बेरुखी, बांस-घाट में मैयतों के हुजूम में शोख गमगीनियत को शक्ल देते इक्के-दुक्के वाक्यों का जिक्र और होता तो रिपोर्ताज और भी सशक्त होता.

▣ विनोद कुमार सिन्हा, पटना

● उषाकिरण खान

पटना की भूलचूक

'सारिका' अंक : 302 में 'पटना महानगर' की रिपोर्ताज कथा को पढ़कर मन आत्मविभोर हो उठा. सिर्फ एक बात खटक गयी थी कि उषाकिरण खान दक्षिण पटना, खासकर पटना शहर को दो भागों में बांटने वाले पुल चिरैंचोटाड़ के बारे में कुछ कहने से चूक गयी हैं. फिर भी लेखिका को बधाई!

▣ अशोक कुमार सिंहा, पटना

अपना-अपना रोना

'सारिका' अंक : 302 में आपने मूल्य वृद्धि का रोना रोकर, हमें बाध्य कर दिया है कि हम भी विज्ञापन वृद्धि का रोना रोयें.

▣ लालचंद चौरसिया, मीरजापुर (उ प्र)

कृपया पार्टनर खोज दें

'सारिका' अंक: 302, पहले ध्यान मुख-पृष्ठ के मूल्य पर नहीं गया था, मुख-पृष्ठ सुंदरी और कुछ देखने का मौका ही कहां रखती है, पता चला कि आपने इसकी कीमत 2.50 रुपये कर दी है. ऐसा लग रहा है, अच्छा साहित्य भी आम आदमी की पहुंच से बाहर हो जायेगा. किताबें तो खरीदकर पढ़ नहीं सकता. उनके लिए किसी पुस्तकालय की शरण में ही जाना पड़ता है. अब पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने के लिए भी वहीं शरण लेनी पड़ेगी. आजकल मैं ऐसे मित्र की तलाश में हूं जो 'सारिका' खरीदने में मुझे हिस्सा दे सके. कृपया मेरे पार्टनर को आप खोज कर दें. इसके लिए मैं आपका आभारी रहूंगा.

▣ जयकुमार सिंह, इसरायण कलां (बिहार)

अठन्नी पर अठन्नी पर अठन्नी

अंक : 302 खरीदा. स्टॉल वाले से झगड़ते-झगड़ते बचा. आप हम लोगों की कमजोरी का नाजायज फायदा उठा रहे हैं. 'सारिका' पढ़ने की ऐसी आदत लगी है कि मैं पांच रुपये में भी खरीदकर पढ़ सकता हूं. लेकिन व्यवस्थापक भी कम तेज नजर नहीं आते, अठन्नी पर अठन्नी बढ़ाये चले जा रहे हैं. वेतन वृद्धि वर्ष में एक बार होती है. पता नहीं आपका मूल्य कितने दिनों में बढ़ जाता है.

▣ अनिल पतंग, सनहा (बेगूसराय)

पारदर्शी कांच की दीवार

कामतानाथ के प्रति पुलिस के दुर्व्यवहार की बात सुनकर मन अनमना हो गया. यों मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि लेखक कोई विशिष्ट प्राणी नहीं है. कामताजी पर किया गया बर्बर जुल्म एक तरह से लेखक और समाज के बीच पारदर्शी कांच की दीवार को चिनकाने में सहायक होगा. हमारे लेखक बंधुओं का अभी भी कोई सम्मोहन बचा रह गया हो तो आश्चर्य है. कुछ दिनों पूर्व इधर के कुछ कवियों पर भी ऐसे प्रहार हुए हैं.

▣ संजीव, कुलटी

इस विश्वास को तोड़ें

'सारिका' अंक : 302 में भाई कामतानाथ पर कानपुर में पुलिस द्वारा हमले का समाचार पढ़ा. प्रश्न इस कृत्य की निंदा या भर्त्सना किये जाने का नहीं है, प्रश्न यह है कि उन स्थितियों के लिए जमीन कौन तैयार कर रहा है और हम-आप उस तयारी को सिर्फ चुप देख रहे हैं तो क्यों? हमला हो जाना एक खेद की बात है, लेकिन उससे अधिक खेद की बात, व्यवस्था का यह विश्वास है कि कामतानाथ सरीखे लोगों पर हमला कर देना कोई कठिन काम नहीं. प्रश्न यह है कि क्या सत्ता का यह विश्वास गलत है? शायद नहीं.

इस पत्र के माध्यम से न तो मैं 'बुलडोजर' की निंदा करके हवा में तलवार भांजना चाहता हूं, ना ही भाई कामतानाथ को सांत्वना देने का प्रयास करके उनकी दृढ़ता को चुनौती देना चाहता हूं. मैं तो सिर्फ सहयोगी लेखकों, ईमानदार पाठकों तथा सार्थक रचनाधर्मियों को यह संवाद देना चाहता हूं कि सब एकजुट होकर व्यवस्था के इस विश्वास को तोड़ें कि कामतानाथ पर हमला करना केले के पेड़ को काटना भर है! ▣ अशोक गुप्ता, फरीदाबाद

प्रथम पुरस्कार : 50 रुपये

आज सड़कों पर लिखे हैं,
सैकड़ों नारे न देख,
घर अंधेरा देख तू,
आकाश के तारे न देख.

—दुष्यंत कुमार

● हेम चंद्र जोशी, 48/1, टैगोर कालोनी, देहरादून (उ. प्र.)

द्वितीय पुरस्कार : 30 रुपये

जो जवां होने की हसरत
में ही बूढ़े हो गये,
अब तो उन सूखे दरख्तों
को भी फलना चाहिए.

—अखलाक सागरी

● रणवीर सिंह द्वारा–उदय रेडियो हाउस, जामा मस्जिद के पास, कटरा बाजार, सागर (म. प्र.)

तृतीय पुरस्कार : 20 रुपये

करती रही सवाल पर.
पाया नहीं जवाब,
अपने में उलझती रही,
बातून जिंदगी.
अब कौन-से जद्दोजहद
की फिक्र में डूबी,
दांतों से काटती हुई
नाखून जिंदगी

—शिवप्रसाद बागड़ी

● मधु मिश्र, 17 (ख), हीरापुर कालोनी, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रशंसित शीर्षक

● परमात्मा प्रसाद शुक्ल 'साथी,' जगदलपुर.

ता उम्र खोजते रहे
रोशनी का घर,
बचपन से बुढ़ापे तक,
आया नहीं नजर.

● नीरू जैन, देवबंद

घरों से किसलिए
तुम क्यों सड़क पर निकल आयी,
अभी तो बांटने वह शख्स
खुशबू भी नहीं आया.

—इकबाल

● कृष्णेश्वर डींगर, इलाहाबाद

ता जिंदगी बस
राजपथ ही ताकते रहे,
घेरे में उनकी
दूरियों को नापते रहे,
पर एक नजर
ऊबी नहीं अपने-आपसे,
अब भी उसे विश्वास है,
कुछ हमसे-आपसे.

● हरविंद्र सिंह सैद, फरीदाबाद

हथकड़ी ले के किसे
ढूंढ रहे हैं सब लोग,
क्या शहर में कोई
इंसान अभी बाकी है?

तस्वीर बोलती है

सारिका, अंक : 301

पुरस्कार विजेताओं को बधाई!

यह अंक

होली के रंग भरे मौके पर सारिका अपना हास्य-व्यंग्य विशेषांक प्रस्तुत कर रही है. इस अंक का प्रारंभ हमने विश्व के दो महान व्यंग्यकारों से किया है. एक ओर जहां हम विदेशी व्यंग्यकारों के प्रतीकस्वरूप लॉरेंस डरेल के इस वक्तव्य को ले रहे हैं, वहीं अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यंग्य-चित्रकार आर. के. लक्ष्मण से एक सीधी, सटीक और लंबी बातचीत प्रस्तुत कर रहे हैं. साथ ही हमारी कोशिश है कि भारत के, विशेष रूप से हिंदी के, प्रख्यात व्यंग्यकारों का प्रतिनिधित्व भी उजागर हो सके.

पिछले वर्ष के हास्य-व्यंग्य विशेषांक में हमने तेजी से गायब होते हुए हास्य का सवाल उठाया था, लेकिन इस बार हमारी कोशिश है कि हम सिर्फ सवाल तक ही अपने आपको न रोके रहें, अपितु हास्य-व्यंग्य की कुछ सार्थक बानगियां भी प्रस्तुत करें. रवींद्र वर्मा के व्यंग्य उपन्यास 'गाथा शेखचिल्ली' का सार संक्षेप भी हमारी इसी कोशिश का नतीजा है.

यदि हमारा यह अंक पाठकों को थोड़ा भी तनाव मुक्त कर सका और उन्हें नयी रचनात्मक चेतना से जोड़कर हास्य-व्यंग्य की नयी स्थापना में रंचमात्र भी शरीक हो सका, तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे.

होली की शुभकामनाओं के साथ हम यह अंक आप सब को समर्पित कर रहे हैं.

—संपादक

"मैं छोटी कहानियां लिखने में अनाड़ी हूं!"

● लॉरेंस डरेल

ब्रिटिश नागरिक लॉरेंस डरेल का जन्म (27 फरवरी, 1912) भारत में हुआ. वह वर्षों तक कई देशों में ब्रिटिश राजदूतावासों के प्रेस अटेची रहे. लॉरेंस डरेल संसार के उन व्यंग्यकारों में माने जाते हैं जो लफ्फाजी से दूर सटीक लिखने में विश्वास करते हैं. यहां उनकी एक पुरानी बातचीत पर आधारित यह संक्षिप्त वक्तव्य प्रस्तुत है.

कैंब्रिज से हटने के बाद मेरे पास कुछ समय तक गुजारे के लिए थोड़े से पैसे रह गये थे. उन्हीं के सहारे मैं लंदन में बस गया. एक नाइट क्लब में पियानो बजाने का काम किया और यह काम तब तक चलता रहा, जब तक कि पुलिस ने मुझे वहां से खदेड़ नहीं दिया. फिर मैंने मकानों और जमीन की दलाली की, किराया वसूलने का काम किया और उसी दौरान अपने आपको कुत्तों से कटवा बैठा. उसके बाद मैं लेखन में जुट गया. मैं हमेशा लिखते रहना चाहता था. मेरे पास काफी सामग्री इकट्ठी हो गयी लेकिन मैं उसे कहीं छपवा नहीं सका. यों मैं आठ साल की उम्र से ही कागज खराब करने लगा था.

मेरी प्रारंभिक रचनाओं में इंग्लैंड के बुर्जुआओं के खिलाफ काफी कुछ है. यह सब मैंने उस समय के नायकों से लिया है. यह काफी कुछ फैशन के तौर पर है. थोड़ी देर के लिए अगर हम इंग्लैंड को यूरोप का हिस्सा न मानें तो मैं यह कह सकता हूं कि यहां रचनाकारों को स्वस्थ मानसिक खुराक नहीं मिलती. वैसे इंग्लैंड बड़ा ही रचनात्मक लैंडस्केप है. लेकिन जिस तौर-तरीके से हम यहां रह रहे हैं, वह तौर-तरीके सही नहीं हैं.

मैंने अज्ञात नाम या छद्मनाम से भी दूर की कई अनजान पत्रिकाओं के लिए फीचर लिखे हैं. काहिरा में मैंने एक व्यंग्य स्तंभ भी चलाया था. मैंने बहुत-सी चीजें विदेश विभाग की डाक से भेजी हैं. यह काम किसी भी विदेशी संवाददाता की अपेक्षा ज्यादा मुश्किल था. क्योंकि मेरी स्थिति एक बिचौलिये की थी. विदेशों में पत्रकारों के बीच रहकर मैं बहुत-सी ट्रिक्स सीख गया. पत्रकार जगत में बहुत कुछ जबरदस्ती लिखा जाता है. यह काम काफी मुश्किल है लेकिन इससे आदमी संक्षिप्तीकरण और सटीक लेखन की कला सीखता है. वह वक्त पर काम पूरा कर लेने में माहिर हो जाता है. जब आपको 'डेड लाइन' मालूम है तो आप उस वक्त तक काम पूरा कर लेने की मनःस्थिति अपने आप बना लेते हैं और काम हो भी जाता है. मैं प्रकाशन के मामले में भाग्य को भी जिम्मेदार मानता हूं. मैंने बहुत कुछ लिखा लेकिन सब प्रकाशित नहीं हुआ और जो प्रकाशित हुआ वह ज्यादा बिका नहीं.

वैसे मैं अपने लेखन से कभी संतुष्ट नहीं होता. मुझे एक ऊब होती है. लेकिन मेरी लिखने की गति बहुत तेज है. जब मेरी किताब का प्रूफ आता है तो उसे पढ़ने से पहले मुझे एस्प्रिन लेनी पड़ती है. अक्सर मैं दूसरों से निवेदन करता हूं कि वह मेरे लिए प्रूफ संशोधन का काम कर दें. लेकिन जब कभी पारिश्रमिक मिलता है तो उसे लेने के लिए मुझे एस्प्रिन नहीं खानी पड़ती.

मैंने कहानियां कम लिखी हैं—सिर्फ तीन या चार. लंबाई मुझे हमेशा परेशान करती है. दो चीजों से मुझे उतनी ही परेशानी होती है जितनी किसी को लकड़ी की टांग लगाने से हो सकती है. पहली चीज है—ऐसी कहानी, जिसकी लंबाई सिर्फ चार हजार शब्दों तक हो और दूसरी चीज है 'टाइम्स' के लिए फीचर लिखना. मैं पांच या आठ हजार शब्दों की रचना आसानी से लिख सकता हूं लेकिन उसमें से एक हजार शब्द कम करना भी मेरे लिए बहुत मुश्किल काम है. मैं यह काम संबंधित व्यक्तियों पर छोड़ देता हूं कि वे उसमें से जरूरत के मुताबिक जितना चाहें काट दें. 'ओ' हेनरी इस कला के माहिर हैं और मैं अनाड़ी हूं. □

साक्षात्कार

व्यंग्यचित्रकार लक्ष्मण की नजर में लक्ष्मण

कार्टूनिस्ट आर. के. लक्ष्मण के साथ देवेश ठाकुर की बातचीत

"न राजनेताओं से मुझे कुछ सीखना होता है और न उन्हें मुझसे!"

▣ आर. के. लक्ष्मण

रंग और तरंग के इस मौके पर हम आपका साक्षात्कार करवा रहे हैं जाने-माने कार्टूनिस्ट आर. के. लक्ष्मण से. उनसे बातचीत की है आपके सुपरिचित समीक्षक डा. देवेश ठाकुर ने. साथ ही एक और बातचीत भी है जो पत्रकार विश्वनाथ ने लक्ष्मण से सपनों में की थी.

गोरा, चमकता चेहरा; छोटी-सी कद काठी; सफेद कमीज और काली पैंट, गले में डोरे की मदद से लटका चश्मा. देश के प्रख्यात राजनीतिक कार्टूनिस्ट लक्ष्मण को इस वेश-भूषा में आसानी से पहचाना जा सकता है. पिछले 34 सालों से टाइम्स ऑव इंडिया से संबद्ध. हर वक्त अपने 'आइडिया' में डूबा हुआ व्यक्तित्व. जाहिर है, ऐसे आदमी से इंटरव्यू के लिए टाइम लेना मुश्किल था. जब-जब इसके लिए फोन किया, बहुत अधिक औपचारिक और बहुत हद तक तुर्श आवाज में यही जवाब मिला, अभी टाइम नहीं है, कल इतने बजे फिर पूछ लूं.

और क्योंकि इंटरव्यू लेना ही था, इसलिए अगले दिन फिर बताये समय पर फोन किया. . . आखिर एक दिन मिलने का टाइम मिल गया. . .

'टाइम्स' की तीसरी मंजिल के एक कोने पर बहुत छोटा-सा केबिन. केबिन में एक मेज और सिर्फ दो कुर्सियां. मेज भानुमती के पिटारे-सी भरी हुई: चारों तरफ बिखरे हुए कागज, ब्रश और पेंसिल. एक स्टूल पर अखबारों के ढेर.

. . . इतने बड़े आर्टिस्ट के लिए यह व्यवस्था! . . . ये कार्टून जो देश भर के बुद्धिजीवियों के होंठों को एक पल के लिए फैला देते हैं—इस केबिन से निकलते हैं! . . .मुझे सचमुच एक झटका लगा. . . दूसरा झटका दिया स्वयं लक्ष्मण ने. . . मुस्कराता हुआ चेहरा, अपने-पन से भरा हुआ. . . शाम के चार बज रहे थे लेकिन लक्ष्मण बिल्कुल नहाये-धोये से, ताजा लग रहे थे. फोन की उस तुर्शी का कहीं पता नहीं था.

"तो. . ." उन्होंने मुस्कराते हुए मेरी ओर देखा और मैंने देखा—मेरे सामने एक सहज व्यक्तित्व बैठा है. 'सर्वोच्च पत्रकार' (रोटरी, 1969)

और डी. लिट. (मराठवाड़ा, 1978) की उपाधियों से जो गरिमा और गंभीरता आनी चाहिए थी, उसका कहीं पता नहीं है.

मैंने अपना मंतव्य बतलाया. उन्होंने अगले दिन का टाइम दे दिया. अगले दिन जब 10 मिनट लेट पहुंचा तो उन्होंने मुझे देखकर अपनी घड़ी की ओर नजर डाली. . . मैं थोड़ा-सा संकोच में पड़ गया. और मुझे उनकी पत्नी कमला लक्ष्मण का एक वाक्य याद आ गया जो उन्होंने लक्ष्मण के बारे में फेमिना (मई-1973) में लिखा था—"मैं लक्ष्मण की ओर इसीलिए आकर्षित हुई हूं क्योंकि लक्ष्मण हद दर्जे का ईमानदार और व्यवस्थित आदमी है." मैंने बातचीत शुरू की :

आपके परिवार वाले आपके 'प्रोफेशन' के बारे में क्या सोचते हैं?

परिवार में हम सिर्फ तीन प्राणी हैं. मैं, मेरी पत्नी और बेटा. मेरी पत्नी और बेटा मुझे महान समझते हैं. जैसे सभी पत्नियां और सभी बेटे अपने कलाकार पति अथवा पिता को महान समझा करते हैं. वे मेरी कला से उदासीन भी नहीं हैं. और हों भी तो मैं उसकी चिंता नहीं करता.

क्या आपके परिवार में से किसी को कार्टून बनाने का शौक है?

नहीं. . . बिल्कुल नहीं.

क्या आप बता सकेंगे—आपको किस कार्टून से ख्याति और मान्यता मिली?

आपका सवाल ही गलत है. आप लेखक हैं न, इसीलिए. लेखक बतला सकता है कि उसे कौन-सी किताब से ख्याति मिली. आर्टिस्ट (चित्रकार) भी कह सकता है कि फलाने चित्र से वह प्रसिद्ध हुआ. लेकिन यही बात किसी कार्टूनिस्ट या कार्टून के साथ फिट नहीं बैठती. दरअसल, कार्टून बनाना एक प्रक्रिया है—एक श्रमसाध्य प्रक्रिया है. एक के बाद दूसरा कार्टून लगातार दर्शकों-पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है—एक 'चेन' के रूप में, एक कड़ी के रूप में—तब जाकर कहीं कार्टून और कार्टूनिस्ट को ख्याति मिलती है.

अपने कार्टूनों की रचना प्रक्रिया, मेरा मतलब 'प्रोसेस' से है, के बारे में कुछ बतलायेंगे?

'प्रोसेस', सचमुच बहुत मुश्किल है. कार्टून बनाने के लिए जान-बूझकर कोशिश नहीं की जाती. इस तरह कुछ नहीं बनता. कुछ बन नहीं सकता. कार्टून का बनना, न बनना खबर पर निर्भर करता है. जब तक हमारे पास 'न्यूज' नहीं है, हम कार्टून के बारे में सोच भी नहीं सकते. हमारा सोचना तब शुरू होता है, जब कोई काम की 'न्यूज' हमें मिलती है. फिर 'न्यूज' मिलने से ही सब कुछ नहीं हो जाता. 'मूड' पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है. कभी-कभी छह-छह घंटे तक बैठा रहता हूं, अपने 'सबजैक्ट' को लेकर सोचता रहता हूं, उसका विश्लेषण करता रहता हूं. एक ओर उसके 'इफैक्टस' दिमाग में चलते रहते हैं, दूसरी तरफ 'स्कैच पेंसिल' से लकीरें खींचता रहता हूं. . .

लेकिन इसके बाद भी कार्टून अच्छा बन ही जायेगा, इसकी गारंटी नहीं है. सिर्फ खबर पाने, खबर को सोचने, सोच को विश्लेषित करने और उसके आधार पर 'स्केच पेंसिल' चलाने मात्र से कोई अच्छा कार्टून बन जायेगा, ऐसा नहीं होता. अच्छा कार्टून बनाने के लिए मानव मनोविज्ञान को बारीकी से जानने, अपने आस-पास के परिवेश और जिंदगी से पूरी तरह वाकिफ होने और अपने आपको दूसरों के स्थान पर रखकर स्थितियों को देखने का अभ्यास जरूरी होता है. दूसरों को पढ़ने और उनके सोचने के ढंग को जब तक आप आत्मसात नहीं कर पाते, तब तक आपकी कलम से अच्छा कार्टून नहीं निकल सकता. दूसरे शब्दों में मैं कहूं—**अनटिल यू बिकम प्रोफेटिक, यू कांट बी अ कार्टूनिस्ट.** चीज तभी बनती है, जब आप इतनी सारी साधना एक साथ कर लें.

और इस पूरी प्रक्रिया में मैं शाम तक कितना थक जाता हूं, मैं आपको क्या बताऊं.

एक कार्टूनिस्ट का उसकी जीवन-दृष्टि पर क्या प्रभाव पड़ता है?

वह पागल-सा हो जाता है. सिनिकल. मैं 34 साल से यहां हूं. मैं जानता हूं, यह सब कितना तकलीफदेह है. मेरे मन में किसी के प्रति कोई स्नेह सम्मान की भावना ही नहीं रह गयी है. सिर्फ अपने थोड़े से संबंधियों को छोड़कर और इन तथाकथित सामाजिक मूल्यों के प्रति तो मेरी प्रतिक्रिया बहुत बढ़ गयी है. बढ़ती जा रही है.

अगर कोई आपका कार्टून बनाये तो?

मुझे अच्छा लगेगा. लेकिन. . .

लेकिन क्या?

यह अच्छा लगना इस बात पर निर्भर करेगा कि उसने किस दृष्टि से उसे बनाया है. कार्टून मेरे लिए सामाजिक असंगतियों पर व्यंग्य करने का एक माध्यम है. किसी के 'पर्सनल अफेयर्स' को लेकर कार्टून बनाना गलत और अनैतिक बात है. कार्टून का विषय सामान्य जीवन और 'पब्लिक अफेयर्स' ही होना चाहिए. . .यू शुड हेव ब्रॉडर स्फेयर. . .

आप डेविड लो और विकी जैसे कार्टूनिस्टों के बारे में, सच में क्या सोचते हैं? आर दे 'ऑल टाइम' कार्टूनिस्ट? क्या आपने इनसे इंस्पिरेशन ली.

'ऑल टाइम' कोई नहीं होता. कोई हो सकता नहीं. जो भी 'ग्रेट' होता है, अपने समय में होता है. और हमें किसी भी व्यक्ति का आकलन उसके अपने परिवेश के बीच करना चाहिए. डेविड लो और विकी अपने समय के महान कार्टूनिस्ट थे. अपने समय की असंगतियों, भयावहता और जोर-जुल्म को उन्होंने बड़ी सटीक अभिव्यक्ति दी. उन्होंने जीवन में कार्टून की सार्थकता और उपयोगिता निश्चित की. इसीलिए वे काफी समय तक याद किये जाते रहेंगे.

जहां तक डेविड लो से 'इंस्पिरेशन' लेने का सवाल है, उसके बारे में मैं पहले तो यह बतला दूं कि कार्टून 'कन्सैप्ट' पश्चिम का है, हमारे देश का नहीं. कार्टून वहीं से शुरू हुआ.

"मैं आज के माहौल में, जो हमारे चारों तरफ है, अपने को बहुत बुझा हुआ महसूस करता हूं. मैं सोच नहीं पा रहा हूं कि एक व्यापक भूमिका पर यह देश एक होकर कैसे रह पायेगा! बड़ी-बड़ी भयानक शक्तियां हैं जो इसकी एकता को खंडित करने के षड्यंत्र में लगी हैं . . . लोग क्षेत्रीय स्वार्थों को महत्व देने लगे हैं."

इसलिए मुझे भी कार्टून बनाने की इंस्पिरेशन वहीं से मिली. लेकिन 'इंस्पिरेशन' का मतलब 'इमीटेशन' नहीं होता. बहुत से लोग 'इंस्पिरेशन' का गलत अर्थ लगा लेते हैं. इसीलिए मैं इस बात को साफ कर देना चाहता हूं. जब मैंने कार्टून बनाना शुरू किया, मैंने देखा कि मेरी तरह और भी बहुत से लोग इस काम में लगे हुए हैं. सो, उनकी ड्राइंग को देखता जरूर था. उनके बारे में सोचता भी था, लेकिन मैंने कभी किसी की नकल नहीं की. फिर एक बात और है, प्रेरणा या इंस्पिरेशन बाहर से नहीं मिलती. जब तक आपके भीतर अपना कुछ न हो—मतलब यह कि जब तक अंतःप्रेरणा न हो, आप कुछ भी विशिष्ट नहीं कर सकते.

अपने देश में बन रहे कार्टूनों के स्तर के बारे में कुछ कहेंगे? क्या आपको लगता है कि हमारे कार्टून मैच्योरिटी की स्थिति तक पहुंच गये हैं.

अपने देश के कार्टून संसार के कार्टूनों से होड़ लेने की स्थिति में हैं और पूरी तरह सक्षम हैं. उनमें 'मैच्योरिटी' साफ दिखलाई पड़ती है. क्या आपको ऐसा नहीं लगता?

आपके सबसे अच्छे कार्टून किन विषयों पर हैं?

मैंने सब विषयों पर कार्टून बनाये हैं. और अपनी तरफ से सब अच्छे बनाये हैं.

आपको, अबू जैसे कार्टूनिस्टों के बारे में क्या राय है, जो ड्राइंग के बजाय शब्दों पर ज्यादा निर्भर करते हैं?

मैं दूसरे कार्टूनिस्टों पर अपना मत नहीं देना चाहता. यह मेरी दृष्टि में नैतिक नहीं है.

अच्छा, यह बतलायेंगे कि कार्टून में शब्दों का महत्त्व अधिक होता है अथवा रेखांकन का?

आपने बड़ी चालाकी के साथ अपना पहला ही सवाल फिर पूछ लिया. लेकिन इस सवाल का जवाब मैं यों दे सकता हूं कि कार्टून मूलतः एक व्यंग्य-चित्र होता है, शब्द-चित्र नहीं. इसलिए उसमें शब्द प्रयोग से अधिक चित्रांकन का महत्त्व बनता है. मेरे बहुत से कार्टून हैं जिनमें शब्द प्रयोग भी अच्छा खासा हुआ है, लेकिन वहां भी मैंने ध्यान रखा है कि उस शब्द-प्रयोग से व्यंग्य-चित्र 'बैक-ग्राउंड' में न चला जाये. वैसे मैं इस हक में हूं कि कार्टून में शब्द और चित्र के बीच, कहने और देखने के बीच, समन्वय होना चाहिए. तभी एक सार्थक कार्टून बन पाता है.

सर्वोच्च कार्टून की क्या परिभाषा करेंगे?

सर्वोच्च कार्टून सर्वोच्च ही होता है. न इससे कम, न ज्यादा.

और आदर्श कार्टून. . . ?

मैं समझा नहीं.

यानी आपके विचार से कार्टून को तीखा, आलोचनात्मक, अपमानित करने वाला, क्रूर, कैसा होना चाहिए? अथवा इसे केवल मनोरंजक होना चाहिए ताकि विषय (सब्जेक्ट) की भावनाओं को किसी प्रकार की ठेस न पहुंचे.

भाई, हर कार्टूनिस्ट अपना विषय अपने आप चुनता है. यह बिल्कुल व्यक्तिगत मामला है. अगर कार्टूनिस्ट अपने कार्टून से अपनी बात प्रभावशाली ढंग से कह जाता है तो मैं समझता हूं कि उसने अपना काम पूरा कर दिया और वही उसका आदर्श कार्टून है. . .

लेकिन इस विषय में आपके क्या विचार हैं?

मैं पिछले 34 वर्षों से कार्टून बना रहा हूं. मेरे विचार मेरे कार्टूनों में स्पष्ट है.

आपको किस प्रकार का खाना पसंद है?

यह बेहूदा सवाल है. इसका मेरे कार्टूनों से क्या संबंध है? खाना, मेरा व्यक्तिगत मामला है. फिर आप पूछेंगे कि आपको कौन-सा रंग पसंद है, किस तरह के कपड़े पसंद हैं. . .

मैं तो यह भी पूछना चाहता था कि आप किस साबुन से नहाते हैं.

आखिर इस तरह के सवालों की सार्थकता क्या है?

इनकी सार्थकता है. आप एक कार्टूनिस्ट ही नहीं, एक व्यक्ति भी हैं. और एक व्यक्ति जिस तरह रहता और खाता है, जिस तरह के माहौल में रहता है, उसका असर उसके पेशे पर भी पड़ता है.

मैं इसे नहीं मानता.

आप व्यक्तिवादी हैं?

जो भी होऊं.

मैं व्यक्ति की रुचि-अरुचि और उसके व्यवहार को उसके पेशे से अलग करके नहीं देख सकता. इसीलिए आपसे पूछा था.

मैं शाकाहारी हूं. दक्षिण भारतीय भोजन मुझे अच्छा लगता है. मिर्चें थोड़ी ज्यादा खाता हूं. अब आप इन मिर्चों को मेरे कार्टूनों के तीखेपन से जोड़ देंगे. . .

और साबुन . . .

अगर मैं कहूं कि मैं सात-सात दिन तक नहाता ही नहीं, या यह कहूं कि मैं सात दिन में एक बार इंपोर्टेड साबुन से नहाता हूं. तो. . .

कुछ भी कहिए, कहिए तो!

आप कुछ भी अंदाजा लगा लीजिए.

क्या आप राजनेताओं से मिलते हैं? उनसे किस विषय पर बातें होती हैं आपकी?

कुछ राजनेताओं से मैं मिला हूं. मसलन नेहरू से. मुझे वे बड़े दिलचस्प आदमी लगे. हम दोनों ने कुछ किताबों पर बातें कीं और विदेशी भ्रमण पर भी. वैसे मैं एक बात कहूं, राजनीतिक नेताओं से मिलना मेरा स्वभाव नहीं रहा है. क्योंकि न मुझे उनसे कुछ सीखना होता है. और न वे मुझसे कुछ सीख सकते हैं.

मैंने आपकी कुछ कहानियां पढ़ी हैं . . . इतने अच्छे कार्टूनिस्ट होने के बाद भी आपको इस माध्यम की आवश्यकता क्यों पड़ी?

व्यक्ति विविधता चाहता है. लेखन भी–खासतौर से कथा लेखन भी रचनात्मकता की एक और विधा है. मेरी पत्नी भी लिखती है, लेकिन वह बच्चों के लिए लिखती है.

आपको अपने भाई (आर. के. नारायण) का लेखन कैसा लगता है?

बहुत अच्छा लगता है. दूसरों को वह बहुत भाता है, सो, मुझे भी भाता है.

आज की सामाजिक स्थिति के बीच आपको कैसा लगता है?

मैं आज के माहौल में, जो हमारे चारों तरफ है, अपने को बहुत अधिक बुझा हुआ महसूस करता हूं. मैं सोच नहीं पा रहा हूं कि एक व्यापक भूमिका पर यह देश एक होकर कैसे रह पायेगा! बड़ी-बड़ी भयानक शक्तियां हैं जो इसकी एकता को खंडित करने के षड्यंत्र में लगी हैं. हमारे नेता हैं, जो छोटी-छोटी बातों पर आपस में सर-फुटौवल कर रहे हैं. ये ऐसी चीजों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर लड़ रहे हैं, जिनके लिए दरअसल कोर्ट-अदालत में लड़ना चाहिए था. यह देश, यह समाज अपना है, ये लोग अपने हैं—ऐसा अपनेपन का भाव तेजी से खत्म होता जा रहा है. लोग क्षेत्रीय स्वार्थों को महत्त्व देने लगे हैं. पहले ऐसा नहीं था. अब यही सच हो गया है. □

एक काल्पनिक इंटरव्यू में **आर. के. लक्ष्मण** ने **विश्वनाथ** को बताया कि

"कार्टून बनाने की कला मरती जा रही है!"

लक्ष्मण के साथ देवेश ठाकुर की बातचीत के बाद अब हम दे रहे हैं लक्ष्मण के साथ विश्वनाथ की बातचीत. मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जो बात हम जागृतावस्था में नहीं कर पाते उसे स्वप्न में करते हैं. तो यह बातचीत भी विश्वनाथ ने स्वप्न में ही की है और जस की तस हमें लिख भेजी है, पूरे विवरणों के साथ. हम इसे प्रामाणिक इसलिए मान रहे हैं क्योंकि इसमें शब्दों की धार उतनी ही तीखी है जितनी लक्ष्मण के कार्टूनों में रेखाओं की धार होती है.

'सारिका' के संपादक ने चुनौती दी थी और मैं असफल सिद्ध हो रहा था. वे चाहते थे, मैं कार्टूनिस्ट आर. के. लक्ष्मण का इंटरव्यू करूं और आर. के. लक्ष्मण चाहते थे, मैं उन्हें परेशान न करूं. जब भी मैंने फोन किया, जवाब मिला, "कल फोन करिए, आज मैं बहुत व्यस्त हूं." और जब-जब मैंने टेलीफोन पर यह जवाब सुना, मुझे याद आया कि किस तरह स्वयं लक्ष्मण को इंग्लैंड में टी. एस. इलियट से मिलने से पहले इसी तरह के जवाब सुनने पड़े थे. अंततः ग्राहम ग्रीन ने लक्ष्मण को इलियट से मिलाया था. और कल रात यह सोचते-सोचते मुझे नींद आ गयी कि मैं किस ग्राहम ग्रीन को पकड़ूं कि लक्ष्मण से बात हो जाये. . .फिर. . .

फिर अचानक लक्ष्मण मुझे मिल गये.

हां, कार्यालय के बरामदे में, वे मेरे सामने से आ रहे थे, मैं मुस्कराया, उनके चेहरे पर कोई भाव नहीं आया. मैंने सुना था, लक्ष्मण अक्सर ऐसा करते हैं, अपरिचितों, नये परिचितों की मुस्कान का जवाब देने की आदत उनकी नहीं है.

परिचित वे बड़ी मुश्किल से बनते हैं. दोस्ती और भी मुश्किल से करते हैं. और जब तक दोस्ती नहीं कर लेते, खुलते नहीं. . .

"घमंडी," मैंने मन ही मन कहा.

तभी मैंने देखा, लक्ष्मण चलते-चलते रुक गये हैं, फिर मुड़े.

"सुनो," उन्होंने मेरी तरफ इशारा करते हुए कहा, "तुम इंटरव्यू लेना चाहते थे न?"

"जी."

"मेरे पास बिल्कुल समय नहीं है, और फिर इंटरव्यू. . .सैकड़ों इंटरव्यू दिये हैं मैंने, सब कुछ बता चुका हूं और कुछ नया बताने को भी नहीं है मेरे पास!"

"पर मेरे पास नया पूछने को है?"

लक्ष्मण ने मुझे घूरा, मोटे कांच वाले चश्मे से झांकती आंखों में मुझे उपेक्षा ही दिखी पर लक्ष्मण बोले, "पूछो, क्या पूछना है?"

"यहीं? बरामदे में?"

"अच्छा, आओ."

अब मैं लक्ष्मण के केबिन में था, उनके साथ था, इसलिए बाहर बैठे चपरासी ने मुझे रोका नहीं, वरना यह चपरासी किसी को अंदर नहीं जाने देता. लक्ष्मण नहीं चाहते, कोई उन्हें डिस्टर्ब करे, इसलिए.

▣

इससे पहले कि मैं केबिन को अच्छी तरह देख पाता. लक्ष्मण ने पूछ लिया "क्या नया पूछने को है आपके पास?"

मैं अचकचा गया, "आपका नाम?" मैंने पूछ लिया.

"इसमें क्या है, सब जानते हैं मेरा नाम."

"सब नहीं जानते."

"कौन नहीं जानता मैं आर. के. लक्ष्मण हूं."

"पूरा नाम," मैंने धीरे-से कहा, शायद मैंने बहुत ही भोला बनकर यह कहा था.

लक्ष्मण को हंसी आ गयी.

"मेरा पूरा नाम है, रासीपुरम कृष्णास्वामी लक्ष्मण."

फिर वे खुद ही बोले, "देखो, मेरे पास वक्त नहीं है. मैंने बहुत से इंटरव्यू दिये हैं. उन्हें पढ़कर तैयार कर लो."

"लेकिन. . ."

"लेकिन क्या? दीज आर दि ट्रिक्स ऑव द ट्रेड."

पर मैंने इस गुर से काम चलाने से इंकार कर दिया फिर पता नहीं कैसे लक्ष्मण तैयार हो गये.

"पर जल्दी-जल्दी पूछ लो, मेरे पास वक्त नहीं है. . .बस दस मिनट!"

पर मैं आश्वस्त था. मुझे पता था, लक्ष्मण घड़ी नहीं पहनते. एक बार किसी ने इसका कारण पूछा था तो लक्ष्मण ने कहा था, "क्या जरूरी है! सबके पास तो होती ही है."

"आप इतने मूडी क्यों हैं," मैंने पूछा.

"मूडी?. . .कौन कहता है मैं मूडी हूं. मूडी होने की बात तीसरे दर्जे के आर्टिस्ट करते हैं. अगर आज मैं मूड में नहीं हूं तो कल भी मूड में नहीं हो सकता. परसों भी नहीं हो सकता."

फिर उन्होंने बताया कि कितना काम करते हैं. वे 9000 राजनीतिक कार्टून बना चुके हैं, 7000 से अधिक राजनीतिक-सामाजिक कार्टून बना चुके हैं. इलस्ट्रेटेड वीकली में 500 से अधिक राजनेताओं के और फिल्मफेयर में लगभग इतने ही फिल्मी कलाकारों के रंगीन रेखाचित्र बनाये हैं उन्होंने. स्टेट बैंक के कलेंडर भी बनाये हैं, विमको माचिस के कवर भी, एयर इंडिया के कैटलॉग भी. . .

"इतना सब कैसे कर लेते हैं आप?"

"आई एम वेरी रेग्यूलर. . .सवेरे समय पर दफ्तर आता हूं. शाम को घर पहुंचता हूं तो नियम से काम करता हूं."

"मैंने सुना है, आप घर पहुंचते ही खिड़की के पास वाली अपनी कुर्सी पर जाकर बैठ जाते हैं. . .और कौओं को देखा करते हैं?"

"हां. . .देखा करता हूं. . .कौए मुझे बहुत अच्छे लगते हैं."

"कौआ तो कोई बहुत सुंदर पक्षी नहीं है?"

"पक्षी तो है. . .सवाल चीज का नहीं, चीज के देखने के नजरिये का है.

"पर आपने तो कौओं के सैकड़ों चित्र बनाये हैं और जब एक दिन आपके पड़ोसी ने आपकी खिड़की के बाहर वाला पेड़ कटवा दिया था, जिस पर कौए बैठते थे, तो आप बहुत दुखी हुए थे."

"हूं. . ."

"अच्छा, यह बताइए, ह्यूमर क्या है?"

"यह सवाल तो मुझसे गोम्स ने भी पूछ लिया था, इंडिया टूडे वाले ने भी, और भी बहुत सारों ने, और तुम कह रहे थे, तुम्हारे पास नया पूछने को है?"

"जी, मैंने आपके जवाब पढ़े हैं, और मुझे लगता है, उत्तर अधूरे हैं."

"अच्छा. . .," लक्ष्मण ने मुझे घूरा, फिर मुस्कराते हुए बोले, "सच बताऊं, मुझे बिल्कुल नहीं पता, ह्यूमर होती क्या बला है. . .पर हां, यह सेंस ऑव ह्यूमर—विनोद प्रियता—है कमाल की चीज. . .यह प्रकृति की एक ऐसी तरकीब है जो हमें निष्ठुर वास्तविकताओं से बचाती है."

"तो फिर विकी इलिंग्वर्थ और जाझ जैसे कार्टूनिस्टों को आत्महत्या क्यों करनी पड़ी?"

"शायद उनके जीवन की कोई ट्रेजडी उनकी विनोदप्रियता के परिणाम से कहीं अधिक बड़ी होगी, वैसे मैं मानता हूं कि ट्रेजडी कितनी भी बड़ी क्यों न हो, समय के साथ उसका प्रभाव कम हो जाता है. कुछ साल पहले जब मेरी मां का देहांत हुआ तो मुझे लगा था, सब कुछ खत्म हो गया. पर आज जिंदगी वैसी ही चल रही है. ट्रेजडी क्षणिक होती है. दर्जी ने आज सूट देना था, नहीं दिया. रात को कॉकटेल पार्टी में जाना है. इससे ज्यादा ट्रैजिक बात और क्या हो सकती है?"

▣

जब लक्ष्मण यह कह रहे थे तो मैं सोच रहा था, यह लक्ष्मण बड़ी से बड़ी ट्रेजिडी को हंसी में उड़ा देते हैं और उनके कार्टून देखने वाला कुछ क्षण के लिए पीड़ा भूल जाता है. तब मुझे उनका एक कार्टून भी याद आया था. भारत पर चीनी हमले के बाद छपा था वह. कार्टून में एक नक्शा था, जिसमें कृष्णा मेनन नेहरूजी को समझा रहे थे. नक्शे पर कोने में लिखा था: 'एक इंच = 2000 मील' और कृष्णा मेनन कह रहे थे, "गंभीर बात नहीं है, दो हजार मील एक इंच के बराबर है, हमने सिर्फ एक और इंच ही तो खोया है!"

"अच्छा, यह बताइए, राजनीति आपके कार्टूनों पर हावी क्यों है?"

"राजनीति हमारे जीवन पर हावी है, इसलिए."

"आप समाजवादी हैं या पूंजीवादी या कम्युनिस्ट?"

"देखो भाई, मेरा अपना राजनीतिक दृष्टिकोण है पर मैं बताऊंगा नहीं."

"क्यों?"

"इसलिए कि मैं यह भी मानता हूं कि न्यायिक सामान्य बुद्धि किसी सैद्धांतिक रूढ़िवादिता से कहीं बेहतर है."

"अच्छा, राजनीतिज्ञों के बारे में आप क्या सोचते हैं?"

"यह बड़ी मजेदार चीज होती है.

> **"हमारे देश में विरोधी पक्ष है भी? मुझे तो यही लगता है कि शासकों ने दुनिया को यह दिखाने के लिए कि हमारे यहां जनतांत्रिक प्रणाली है, 'विरोधियों' को सुरक्षित रखा हुआ है. इसीलिए मुझे सत्ता में बैठे लोगों पर ध्यान केंद्रित करने में ज्यादा मजा आता है. उन पर हमला आसानी से किया जा सकता है."**

यह न हो तो मेरे पेशे वाले लोग बेचारे भूखे मर जायें."

"क्यों?"

"समझते क्यों नहीं हो, इन राजनीतिज्ञों ने हमारा काम बहुत आसान कर रखा है. इनका बोलना, इनकी हरकतें, सब ऐसी होती हैं जैसे हर समय कार्टूनिस्टों के लिए मॉडलिंग का काम कर रहे हों." यह कहकर लक्ष्मण हंसने लग गये थे.

"हंसी क्यों आयी आपको," मैंने पूछा.

"इसलिए कि कभी-कभी मुझे लगता है, इन राजनीतिज्ञों के तौर-तरीकों और हाव-भाव पर जरूर कार्टूनिस्टों का गहरा असर पड़ा है. नहीं तो ये ऐसे कैसे बन गये हैं जैसे दिखते हैं. एक रहस्य की बात बताऊं, मेरे कार्टूनों का अधिकांश विषय मुझे यही राजनीतिज्ञ सुनाते हैं और जो राजनीतिज्ञ सफल हो जाता है, मंत्री बन जाता है, वह और ज्यादा जोर से कार्टूनिस्ट के लिए काम करने लगता है."

"जो राजनीतिज्ञ सफल नहीं हो पाता, मंत्री नहीं बनता, वो?"

"वह भी कार्टूनिस्ट के लिए काम करता है. वह नारे लगाता है, जुलूस निकालता है, घेराव करता है, कुछ ही दिन चलने वाली आमरण भूख हड़ताल करता है."

"तो इसमें कार्टून जैसी क्या बात है?"

"कार्टून जैसी यह बात है कि राजनीतिज्ञ महंगाई रोकने के लिए, आवश्यक वस्तुओं की कमी दूर करने के लिए, रेलें गिराता है, बसें जलाता है, बंद आयोजित करता है."

"पर जनतंत्र में विरोध प्रकट करने का अधिकार है सबको."

"जी नहीं, मैं इसे राजनीति नहीं मानता. यह किसी गहरी निराशा का परिणाम है."

"दल बदलने के बारे में आपके क्या विचार हैं?"

"मेरी समझ से दल-बदल का मुख्य कारण यह है कि विरोध की राजनीति में बहुत तकलीफें होती हैं, सड़कों पर नारे लगाना, भूख हड़ताल करना आखिर तकलीफदेह काम है, इसलिए राजनितिज्ञ दल-बदलकर लेते हैं, ताकि सत्तारूढ़ दल में जाकर वातानुकूलित कमरे में मंत्री की कुर्सी पर बैठकर गरीबी हटाने और लोगों की पीड़ाएं कम करने का समाजसेवी काम किया जा सके."

"पर सबको तो कुर्सी मिल नहीं जाती?"

"जिनको नहीं मिलती वह किसी न किसी तरह दायें, बायें या पीछे घूम जाते हैं और सरकार उलटकर खुद गद्दी पर बैठने के काम में जुट जाते हैं, अक्सर वे लोग सफल भी हो जाते हैं और तब तक सफलता के फल चखते रहते हैं जब तक कोई उन्हें गद्दी से उतार नहीं फेंकता."

"हमारे देश के विरोधी-पक्ष के बारे में आपका क्या खयाल है?"

"हमारे देश में विरोधी पक्ष है भी? मुझे तो यही लगता है कि शासकों ने दुनिया को यह दिखाने के लिए कि हमारे यहां जनतांत्रिक प्रणाली है, 'विरोधियों' को सुरक्षित रखा हुआ है, इसीलिए मुझे सत्ता में बैठे लोगों पर ध्यान केंद्रित करने में ज्यादा मजा आता है, उन पर हमला आसानी से किया जा सकता है. वे गलतियां ही नहीं करते, महागलतियां करते हैं. घोटालों के साथ उनका नाम जुड़ता है और वे ऐसे घोटालों से बड़ी सफाई और चतुराई से बचकर निकल भी आते हैं."

"पर जब आजादी मिली थी, उन दिनों तो आपके विचार ऐसे नहीं थे."

"हां, तब मैं भी औरों की तरह भविष्य के प्रति आशावान था. तब मुझे लगा, नेताओं के प्रति आदर का भाव रखना चाहिए, मैं अपना ब्रश लेकर राष्ट्र-निर्माण के उनके काम में सहायक बन गया. पर जल्दी ही मुझे लगने लगा, अखबार में छपे मेरे कार्टून और अखबार में छपी खबरों में तालमेल नहीं बैठ रहा. मुझे बदलना पड़ा. मैं वास्तविकता से आंख नहीं चुरा सकता था."

"अच्छा, यह बताइए देश के अन्य कार्टूनिस्टों के बारे में आप क्या सोचते हैं?"

"अच्छे हैं."

"जो कार्टून छपते हैं, उनके बारे में?"

"एक बात बताऊं, मुझे लगता है कि कार्टून बनाने की कला मरती जा रही है."

"मरती जा रही है?"

"हां, अब राजनीतिज्ञ अपनी मूर्खताओं की वैसी शेखी नहीं बघारते जैसी पहले बघारा करते थे."

"एक सवाल और, आपके कार्टून बहुत पैनी मार करते हैं. ऐसा कोई कार्टून आप बता सकते हैं जो आपकी दृष्टि में सबसे कम मार करने वाला था?"

"सबसे कम मार करने वाला? यह तो उल्टा सवाल है."

"मैंने कहा था न, मेरे सवाल नये हैं."

"सबके कम मार करने वाला. . . एक कार्टून मैंने बनाया था जब अमेरिका के राष्ट्रपति फोर्ड ने अपनी भारत यात्रा स्थगित कर दी थी, उस दिन एक-दो जगह फोर्ड लड़खड़ा कर गिरे थे. सो मैंने हवाई अड्डे पर उनके स्वागत की तैयारियों का चित्र खींचा, जिसमें हवाई जहाज से उतरने वाली सीढ़ियों के नीचे एक जाल लगा दिया था. तब आपातकाल के दिन थे, पता नहीं कैसे सैंसर को लगा कि यह अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर खतरनाक टिप्पणी है और मेरा सबसे मासूम कार्टून छपने से रोक दिया गया."

"एक सवाल है. . ."

"पहले बताओ तुम्हारी घड़ी में बजे कितने हैं?" लक्ष्मण ने टोकते हुए पूछा.

पर इससे पहले कि मैं समय बताता, उन्होंने जोर से घंटी का बटन दबा दिया, घंटी इतने जोर से बजी कि मैं उछल पड़ा और तब मैंने पाया, मैं अपने ही घर में अपनी ही खाट पर हूं और घड़ी का अलार्म बज रहा है. □

अगले अंक में

- वयोवृद्ध उपन्यासकार इलाचंद्र जोशी के साथ प्रमोद सिन्हा की बातचीत
- इलाचंद्र जोशी के संस्मरण
- अपने पात्रों के मनोविज्ञान पर इलाचंद्र जोशी की टिप्पणी

कहानी एक शेखचिल्ली की, जिसमें शेखचिल्ली कभी तमाशा बनते हैं और कभी तमाशबीन. . . एक दिलचस्प जीवन यात्रा, जिसे पढ़कर हंसते-हंसते अचानक दांतों के बीच कंकड़ जैसे किर्र से बज उठे.

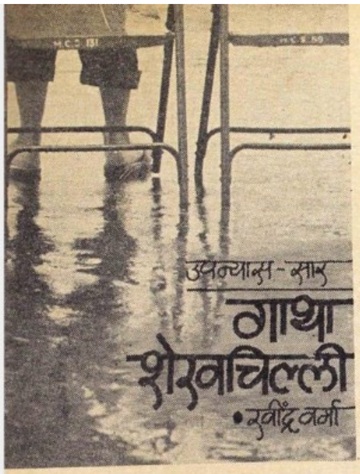

उपन्यास-सार

गाथा शेखचिल्ली

• रवींद्र वर्मा

मैं अपने शहर गया था.

मैंने अपने शहर में बढ़िया दिन गुजारा. अपने पुराने पत्रकार-दोस्त के साथ तांगे पर बैठकर शहर के बाहर दूर धूप में निकल गया, हिचकोले खाता हुआ—धूप और हवा और आसमान और शहर के खंडहरों के बीच, सड़क पर. हनुमानजी के मंदिर के सामने तांगा रोका और भीतर जाकर कुएं का शीतल जल पिया. कुछ देर हम बिना बात कुएं की जगत की पीपल की छांव में खड़े रहे. फिर नगर-पत्रकार ने बजरंगबली को तीन अमरूद चढ़ाये. मैं भी उसके पीछे-पीछे एक बार मूर्ति के चारों ओर घूम गया. चारों और सुनहरी धूप हरियाली पर सुलग रही थी. हिये में गजब की ठंडक पहुंची. शाम हुई. उसे हमने शराब और शेरो-शायरी में डुबो दिया. गयी रात घर की कुंडी खटखटायी. घर के सामने मंदिर में रास-लीला चल रही थी. देर तक सांकल का सिर किवाड़ पर लटकता रहा. निढाल होकर दूसरी मंजिल के किवाड़ पर पत्थर मारने की सोच ही रहा था कि पिता ने दरवाजा खोला और यह मैंने बाद में जाना कि उन्होंने फौरन मेरी शराब सूंघ ली थी. सधी आवाज में पूछा, "खाना खाया?" मेरे मुंडी हिला देने पर कहा, "तुम्हारा बिस्तर ऊपर छोटी अटारी में लगा है."

मैं फक हो गया. कमरे की दीवारें, आले निपट सफेद और नंगे थे—दिवाली की पुताई का रंग था, कमाल की नंगई थी—बीच में एक चारपाई बिछी थी, बस.

चार सफेद झक्क दीवारें. नंगी. नंगा फर्श. फर्श के बीचों-बीच एक चारपाई. फिर सफेद चादर.

एक लाश का इंतजार.

शाम को मैं नगर-श्रेष्ठी की कोठी पर था. वह मेरे बचपन और कुछ किशोर हरकतों का साथी है. नगर-पत्रकार साथ था. हम रईसी ड्राइंग-रूम में सोफे पर पसरे थे जब श्रेष्ठी चूड़ीदार पायजामा, कुर्ता और जवाहरकट में नमूदार हुआ—मुझे लगा, अब वह मेज पर खड़े होकर देश की हालत पर एक तकरीर करेगा और कोई नायाब नुस्खा बतायेगा. उसने दर्दभरे गले से एक नज्म पेश की. तब तक चौपाल में दो-चार लोग और भी आ गये थे, जिनमें मुख्य थे नगर-पति. नगर-पति कमाल के आदमी थे. जवान थे, बड़े रस-भरे थे. शराब के दर्जनभर घूंटों के पश्चात उनके पट बिल्कुल खुल गये. बेचारे नगर-पति थे, लेकिन फिलहाल औरतविहीन थे और गजब के औरत-व्याकुल. कलाकार थे.

श्रेष्ठी के ड्राइंग-रूम में समारोह-समापन धुत्त चेहरों से हुआ था. नगर-पति दोनों आंखें एक ही साथ मारने लगे थे. मैं पत्रकार के साथ बाहर आया. बाहर शुरू जाड़ों का आसमान था. पेड़ थे. . . हवा खुल गयी थी.

अब हम उस बियाबान सड़क पर आगे निकल आये थे जो शहर के चालू रास्ते को किले से जोड़ती है. किला चांदनी में एक काली छाया की तरह पहाड़ी पर ऊंघ रहा था. . . इतिहास की छाया.

सहसा पत्रकार बोला, "देखो, किले की बुर्ज पर देखो. . . बख्शिन तोप में पलीता लगा रही है." उसकी आवाज उत्तेजित थी.

"बख्शिन? बख्शिन कौन?" मैंने कहा.

वह तेज हंसा. सड़क पर जहां का तहां रुक गया. उसके कदम अब अंधेरे में नहीं थे. दोनों तरफ रेत की रोशनी थी.

वह बोल रहा था.

सन् 1858, मार्च के आखिरी दिनों में से एक. दोपहर का वक्त. खेतों में अन्न भरा था और धूप में पसीने की गंध थी. जनरल रोज ने झांसी को घेर लिया था. लड़ाई जारी थी. दोनों तरफ मोर्चे गर्म होते, ठंडे हो जाते—फिर गर्म होते.

हमारी तोपें बिना धुएं के आग उगल रही थीं, फिरंगियों की तरफ धुआं आकाश कुतरने लगता था. बख्शिन के हाथ में दक्षिणी मोर्चा था. . . वहां, सामनेवाली बुर्ज पर. उसके चेहरे पर बारूद की कालिख थी, जिसे पसीने की धारों ने यहां-वहां काट दिया था—जहां कालिख कट गयी थी, वहां गोरा रंग पसीने में झलकता था.

भाऊ बख्शी पूर्वी मोर्चे पर था. उसके हाथों में ब्रह्मास्त्र-सी 'कड़क-बिजली' थी. . . झांसी की जो लटी तकै, तिहि खाएं कालिका माई.

एकाएक फिरंगी का एक गोला दक्षिणी बुर्ज पर गिरा. बुर्ज की कोर और बख्शिन का कंधा टूट गये. बख्शिन ढह गयी—पथरीली बजरी पर, जो शहरभर में फैली है. सूरज वैसे ही टूटी बुर्ज पर चमकता रहा.

भाऊ बख्शी अपने मोर्चे पर हाथ में पलीता लिये तोप की तरफ बढ़ रहा था. जब खबर उसके कानों में पड़ी. उसकी इंद्रियां सूखने लगीं. अंग शिथिल हो गये. वह खड़ा न रह सका. उसके हाथ से पलीता छूट गया. आंखों में भरी धूप काली पड़ गयी.

भाऊ बख्शी बख्शिन को बहुत चाहता था. . . कुछ ऐसे, जैसे वह उसके जीवन की धुरी थी. धुरी टूट रही थी. देह की गागर में बख्शिन थी, गागर फूटी तो बख्शिन, तुम्हें कहां पाऊंगा? उसने आहिस्ता-आहिस्ता आंखें खोलीं. बुर्ज पर पड़ी बजरी धूप में चमकी. मिट्टी-चमत्कार हुआ. बुर्ज के नीचे समूचा शहर फैला था, यहां-वहां फिरंगी के धुएं ने उसे छिपा दिया था, मगर उसके परे लक्ष्मी-ताल धूप में साफ-साफ चमका.

भाऊ बख्शी एकाएक अपना शहर देखते हुए उठा था और उसके जिस्म में खून की रफ्तार बढ़ गयी थी. उसने पलीता उठाया और तोप की तरफ बढ़ते हुए हरकारे से कहा, "अगर वह मर जाये, तो सांझ तक जलाना मत."

पत्रकार गा रहा था—"जननी जनम दियो है तो खोंजई दिना के लाने. . . जननी जनम दियो. . ."

चांद इस बीच किले के पीछे से छिटककर ऊपर चढ़ आया था. रेत झिलमिलायी.

चांदनी में मैं अचानक शेखचिल्ली की तरह उछला और चीखा—मैं अपनी झांसी नहीं दूंगा!

मेरे दोस्त ने ठहाका मारा.

मैं नंगी दीवारों से घिरा, चारपाई पर चित लेटा था. एक लाश की तरह.

रास-लीला खत्म हो चुकी थी.

जिस रात का ऊपर जिक्र है, उस रात मैंने किले के धुंधलके में झांसी के कलेजे से चिपटे हवा में उछलते शेख-चिल्ली को आहिस्ता-आहिस्ता पहचाना. इसे आप शेख-चिल्ली की गौरवशाली परंपरा में एक नयी कड़ी समझ सकते हैं—एक नया, युगीन संस्करण!

दो

हमने ऊपर मिट्टी-चमत्कार की चर्चा की. एक और मिट्टी-चमत्कार से शेखचिल्ली पैदा हुए थे. न कोई आकाशवाणी हुई, न देवता खुश हुए और न असुरों की छाती पर सांप लोटा. सब मस्त रहे. शेखचिल्ली पैदा हो गये. कोई लिखी भूमिका नहीं.

जिस स्कूल में शेखचिल्ली शुरू हुए, उसका नाम प्रेम विद्यालय था—अब वहां लकड़ी की टाल खुल गयी है. प्रेम विद्यालय—एक काफी लंबा, अंधेरा कमरा था, जिसमें फर्श की जगह धूल थी और दोनों ओर टाट की पट्टियां बिछी थीं, यही दर्जा 'अ' था.

शुरू-शुरू में चिल्ली को स्कूल जाना भारी पड़ा. उनके मन में चेचक की दागोंभरी खूंख्वार मूरत बैठ गयी थी. घर से निकलकर सुबह जब वे स्कूल की संकरी गली में मुड़ते, जिसमें सुबह धूप नहीं आती थी, पेशाब की गंध आती थी, एक दहशत सीने में घिरने लगती. कभी-कभी पिता उन्हें जबर्दस्ती स्कूल भेज आते थे.

'दो एकम दो, दो दूनी चार. . .'

फिर लड़का पहाड़ी पर बने स्कूल में जाता है, जहां बड़ी-बड़ी चट्टानें हैं और पेड़ हैं. पीपल और नीम और जामुन के पेड़, उनको घेरे पहाड़ी की लंबी-लंबी चट्टानें और वहां दूर धूप में नीले धुएं-सी विंध्याचल की शाखा. शहर इस तरफ था.

आहिस्ता-आहिस्ता शेखचिल्ली को इलहाम हुआ कि घर में जो अक्सर शीत-युद्ध की स्थिति बनी रहती है, उसका मूल कारण पैसा है, गरीबी हटाओ! तो यही तय पाया गया कि खूब पढ़ो, कोई चकाचक नौकरी प्राप्त करो और घर के दुख हरो, ओउम् जय जगदीश हरे.

शेखचिल्ली अब उदास रहने लगे थे. यह जो पंद्रह-सोलह की उम्र की उदासी होती है न, बड़ी लज्जतदार होती है—जैसे भैंसें पागुर करती हैं, लड़के-लड़कियां इसे चबाते रहते हैं. अकेले में पड़े-पड़े प्यार-मुहब्बत की कहानियां पढ़ते हैं और आंखों से आंसू झरने लगते हैं. सिनेमा हाल के अंधेरे में आंसू पोंछते हैं. देह खुलती है. अकेलापन घिरने लगता है.

इस अवस्था को प्राप्त होते-होते हमारे शेखचिल्ली दुनिया-जहान की बातें सोचने लगे थे. पिता वकील थे. वे जिस तरह बेरहमी से किसानों की अंटी से रुपया निकलवाते, उससे शेखजी के दिल पर आरा चल जाता था. तभी उन्होंने सोच लिया था, मैं वकील कभी नहीं बनूंगा, इंजीनियर बनूंगा—नेहरूजी के मंदिर (बड़े-बड़े बिजली-पानी के बांध) बनाऊंगा और मानव-जाति की सेवा में जिंदगानी गुजार दूंगा!

जरा गौर फर्माइए, एक तरफ शेखजी पर संजीदा अकेलेपन की मार है, दूसरी तरफ वे मानव-जाति की सेवा करने का बीड़ा उठा रहे हैं!

इसी खदबदाहट को शेखचिल्ली का दिमाग कहते हैं.

तीन

इन गर्मियों में भी वे परिवार के साथ गांव गये. हर गर्मियों

में जाते थे. मगर इन गर्मियों में एक खास बात हुई. दूर की एक बहन भी गांव आ गयी. वह चिल्ली से दो साल बड़ी थी और उनके बड़े भाई से दो साल छोटी. उसका नाम था रमा. शेखजी उसे रमा जिया कहकर बुलाते, बड़े भाई रोब से कहते—"रमा, रमा. . ." उनकी आवाज लंबे-चौड़े घर में फैल-फैल जाती. बड़े भाई बड़े थे. यूनिवर्सिटी में पढ़ते थे. वह उनसे पढ़ाई-लिखाई के मसलों पर सलाह लिया करती. वे सलाह देते और शाम को जब सब लोग आंगन में बैठे होते, वे अक्सर इत्मीनान से लंबे होकर अपना सिर रमा की गोद में रख देते और आसमान निहारा करते. शेखचिल्ली कभी बड़े भाई का चेहरा देखते, कभी रमा का और फिर ऊपर खुला आकाश जिसमें सितारे उतरते, फिर चांद आ जाता.

रमा दुबली और सांवली थी. उसकी नाक छुरी की तरह तेज थी. जब वह पहली बार शेखजी के सामने हंसी, तो वे चारों तरफ देखने लगे थे कि घुंघरू कहां हैं—तब उन्होंने उसके दांत देखे थे, फिर आंखें. उसने भी हंसते हुए उनकी तरफ देखा था.

वे डरे थे.

यह शेखचिल्ली की पहली मोहब्बत का शुभारंभ था.

एक तपती दोपहर अंदर के कोठे में रमा और शेखजी बैठे थे. एकाएक रमा ने पूछा, "तुम क्या बनोगे?"

"पुजारी बनूंगा," शेखचिल्ली ने कहा. वे खपरैल पर धुपीले सुराखों को देख रहे थे.

"क्या?"

"नेहरूजी बांधों को मंदिर कहते हैं न! तो इंजीनियर पुजारी हुआ."

"क्यों, पुजारी ही क्यों बनोगे?"

"देश का निर्माण करूंगा." अब वे दीवार पर धूप की लिखाई देख रहे थे.

रमा ठहाका मारकर हंसी. शेखजी भौंचक्के रह गये. कुढ़कर बोले, "इसमें हंसने की क्या बात है?"

वह हंसी रोककर बोली, "इसमें सिर्फ हंसने की बात है."

"क्यों?"

"क्योंकि इंजीनियर देश का कम, अपना ज्यादा निर्माण करते हैं."

"हुंह. . . तुम्हें कैसे मालूम?" चिल्ली ने तुनककर कहा.

रमा बोली, "जीजाजी इंजीनियर हैं न, खूब घूस लेते हैं."

शेखचिल्ली के कानों में घुंघरुओं के बिखरने की आवाज आयी. उन्होंने देखा. वह फिर हंस रही थी.

चार

नेहरू-मंदिरों में शेखचिल्ली का योगदान नहीं होगा, यह निश्चित हो गया.

शेखचिल्ली प्रयाग विश्वविद्यालय गये. घर की तंग हवा से छुट्टी मिली. वे नये शहर की खुली सड़कों पर और विश्वविद्यालय की बड़ी-बड़ी इमारतों में इकल्ले घूमते फिरे. फिर कमरा-साथी रामप्रसाद का साथ हो गया. उसी ने उन्हें पहेली सिगरेट पिलायी. वे पी नहीं रहे थे, मगर उसने कहा, "साले, घर छोड़कर आदमी बनने आये हो या जिंदगी-भर लौंडे ही बने रहोगे!" चिल्ली ताना बर्दाश्त नहीं कर सके, उन्होंने होंठ भींचे और बीच में सिगरेट खोंस दी, फिर राम का नाम लेकर सिगरेट से सांस ली. जिस्म में खलबली मच गयी, जोर की खांसी आयी और माथा भनभनाने लगा. वे रिक्शे से गिरते-गिरते बचे. वो तो रामप्रसाद ने बांह थाम ली और एक भड़भड़ा कहकहा लगाया. वे उस शाम निरंजन जा रहे थे. निरंजन में सिनेमा और नॉवेल्टी में खाना, भरे-भरे टमाटर.

यही धर्म था.

शीतल चांदनी रात में वे लौट रहे थे. उन्होंने 'देवदास' देखी थी. पेट में टमाटर का स्वाद था, दिमाग में देवदास का. तबीयत मस्त हो रही थी.

छात्रावास में वे पीछे से घुसे. सामने छत पर खिचाई चल रही थी.

आहिस्ता-आहिस्ता शेखचिल्ली ने सूंघा कि छात्रावास के हर दूसरे कक्ष में भावी कलक्टर बसता है. सहसा उन्होंने अपने को इतने बेशुमार हाकिमों से घिरा पाया. ये हाकिम लोग अंग्रेजी पीते थे, अंग्रेजी हंसते थे, अंग्रेजी रोते थे, अंग्रेजी गाते थे. एक चमत्कार बरपा था. अपनी जिंदगी बनाने की धुन में (क्या मुहावरा है! . . . जैसे जिंदगी एक ऊनी सूट हो.) ये लोग दीन-दुनिया भुलाये बैठे थे और दिन-रात धूप में सूखते पुराने जूतों की तरह कड़क हो रहे थे.

शेखचिल्ली खुश हो गये. उन्होंने सोचा, नेहरू-मंदिर गये भाड़ में, कारवां और भी हैं. शामिल हो लिये. अब यह हाकिमपन अर्जित करने की प्रक्रिया बड़ी दिलकश थी.

सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकलाप अफसर की आत्मा के जेवर थे. सो शेखजी सामाजिक सचिव के चुनाव में कूद पड़े. छात्रावास में द्वारे-द्वारे जाते, कहते, "मेरा नाम शेखचिल्ली है. अभी तक दो क्लबों का सचिव रह चुका हूं. एक बार सोमवार क्लब' का, एक बार इतवार क्लब का. पढ़ने में अव्वल से एक ही दर्जा नीचे हूं. हरी घास पर हर शाम बल्ले के साथ कुलांचे भरते हुए आपने मुझे देखा होगा. कुछ शेरो-शायरी में भी दखल है. बड़ा ही सामाजिक जीव हूं. भला, मुझसे अच्छा सामाजिक सचिव आपको कहां मिलेगा, जिसका समाज ही ओढ़ना हो, समाज ही बिछौना .चुनना हो तो मुझे चुनिए, नहीं तो भाड़ में जाइए.

शेखचिल्ली सामाजिक सचिव चुने गये.

शेखचिल्ली ने इसी बीच एक और कमाल किया था. वे जुगत भिड़ाकर विश्वविद्यालय की आला संस्था 'सुनहरे पंछी' के सदस्य बन गये. उसकी गोष्ठियां प्रति सप्ताह शहर के आलीशान होटल में होती थीं. गर्व की पहली बल्ली तो यही थी. जब चिल्ली सजधजकर निकलते, कोई-न-कोई पूछ ही लेता, "कहां चले?" वे नेताछाप मंद-मुस्कान होंठों पर ले आते और सधे स्वर में होटल का नाम गुनगुनाते. प्रश्नकर्ता तुरंत रौब की चपेट में आ जाता. सामान्य ज्ञान-संपन्न हुआ तो प्रति-मुस्कान के साथ कहता—'सुनहरे पंछी'. शेखजी मुस्कान को और बढ़ा देते और फौरन आगे बढ़ जाते.

'सुनहरे पंछी' में विश्वविद्यालय के चोटी के लड़के थे. या तो वे बड़े घरों के सपूत थे और या परीक्षाओं में इतने आबदार मोती साबित हो चुके थे कि उनका बड़े घर बनाना निश्चित था. सच पूछिए तो हमारे शेखचिल्ली वहां खपते नहीं थे. अलबत्ता कोशिश दर कोशिश किये जा रहे थे, अपने को सुनहरे रंग में ढाल रहे थे. झाड़फानूस सज्जित हाल में लंबी, चमकती मेज पर खूब चबर-चबर अंग्रेजी बोलते और पेस्ट्रियों के टुकड़े तोड़ते.

सुनहरे पंछी पेस्ट्रियां चुगने के पश्चात राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मसलों पर चोंचें लड़ाते, हंसते-खिलखिलाते, पंख फैलाते और अपने-अपने घोंसलों में लौट जाते. उनके पंखों की परिधि में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन, साहित्य—सब कुछ आता था. उनके पास सारे प्रश्नों के जवाब थे. उस लंबी मेज को क्या कहिए जिसे सुनहरे पंछी अपने ज्ञान से बघारते थे. उसमें गजब का नीर-क्षीर विवेक था.

एक तपते अपराह्न सुनहरे पंछियों का विषय था : गांधीवाद और हमारा समाज.

शेखचिल्ली एकाएक खड़े हो गये. उन्होंने मेज पर चारों तरफ निगाह फेंकी. वे चीखे—और देखिए, उन्होंने क्या किया—शेखचिल्ली ने मुक्का तानकर मेज पर मारा, जो पेस्ट्री की प्लेट में गिरा. प्लेट टूटकर तड़तड़ायी और मेज पर पेस्ट्रियों के टुकड़ों सहित बिखर गयी, दो फूलदान लचक खाकर मेज पर गिरे और इधर-उधर गोलियों-से लुढ़कने लगे. सुनहरे पंछी सहम गये. दो ने एक-एक फूलदान थाम लिया. दो वेटर मेज पर घिर आये.

शेखचिल्ली स्थितप्रज्ञ खड़े थे, पेस्ट्री-क्रीम लिपटा हाथ हवा में घुमा रहे थे और चीख रहे थे, "और कोई चारा नहीं है!"

उन्होंने सहसा वेटर के हाथ से रूमाल खींचकर अपना हाथ पोंछा—क्रीम के नीचे खून निकल आया था.

सचिव मेज के दूसरी ओर खड़ा कह रहा था, "मैं शेखचिल्ली की तरफ से आप सब लोगों से इस अभद्र व्यवहार के लिए क्षमा मांगता हूं."

"मैं अपनी तरफ से कोई माफी नहीं मांगता." चिल्ली ने कहा और अपनी जख्मी हाथ लिये कोक की ठंडक से बाहर हो गये.

हाथ का जख्म कुछ दिनों में ठीक हो गया—निशान कुछ और दिनों बाद.

पांच

शेखचिल्ली नौकरी करने चले.

जैसे सबके दिन नहीं फिरते, उनके दिन फिरे. उन्होंने बोरिया-बिस्तर बांधा, छोटी अटारी की दीवारों में लगी किताबों से कुछ किताबें चुनीं, कुछ लमहे छप्पर में फंसी धूप निहारते रहे. फिर शाम हुई, मां ने मस्तक पर हल्दी का टीका लगाया, उन्होंने मां के, पिता के, दादी के, छोटी बहन के और पड़ोसी चाचा के पैर छुए और सड़क पर खड़े हो अपने असबाब लदे तांगे में जा बैठे. कुदरत की मेहर देखिए, इधर वे तांगे में बैठे, उधर इंद्र देवता मुस्कराये और फुहार छिड़कने लगे. मां ने सोचा, कैसा शगुन है, शेखचिल्ली बहुत बड़े आदमी बनेंगे. वैसे उनकी जन्म-कुंडली में तो साफ-साफ लिखा है कि उनके द्वार पर हाथी झूमेंगे. अब अभी तक उनका द्वार ही नहीं है तो बेचारे हाथी क्या करें! पागलाये जंगल-जंगल, शहर दर शहर झूम रहे हैं.

स्टेशन पर नगर-पत्रकार उन्हें छोड़ने आया था. उसने मुस्कराते हुए सिगरेट पेश की और कहा, "तो, बॉस!" उसने पहली बार बॉस कहा था. संकेत चिल्ली की नौकरी की तरफ था. एक कंपनी में बच्चा-अफसर की नौकरी उन्हें हासिल हुई थी.

बॉस! —इस शब्द से जो शक्ति-प्रदर्शन और दूसरों को दबाने-कुचलने की किरणें फूटती हैं न! . . . उनसे, उन किरणों से, शेखचिल्ली को तत्काल चौंध लगी—हटाओ, दूर हटाओ. वे बिदके, "मैं बॉस-वास नहीं होना चाहता."

गाड़ी प्लेटफॉर्म पर सरकी तो शेखजी डिब्बे के पायदान पर चढ़कर दरवाजे में खड़े हो गये. नगर-पत्रकार मुस्करा रहा था और हाथ हिला रहा था. . . पत्रकार हाथ हिला रहा था. . . सिर्फ हाथ था. . . फिर प्लेटफॉर्म का प्रकाश था. अंधेरे में लिपटा. शेखचिल्ली हाथ हिला रहे थे, प्रकाश पीछे छूट चुका था. पास खड़े अधेड़ ने हैरत से उनका हिलता हाथ देखा, पीछे छूटा प्लेटफॉर्म देखा और फिर उनकी सूरत देखकर मुस्कराने लगा. उन्होंने अपना हाथ वापस ले लिया. दिल में पीछे छूटे जाते शहर के लिए हुंकार उठी—बाई-बाई, टा-टा. . . बा . . . टा. . . बाटा बाटा. . . वे बुदबुदा रहे थे.

वे दरवाजे से पीछे मुड़े और डगमगाते कदमों से अपनी जगह बैठ गये. पास बैठे सज्जन के हाथ में रंगीन पानी का गिलास था. वे बोले, "आप पियेंगे?" "हां," शेखचिल्ली के मुंह से निकला, जो उन्होंने प्रश्नकर्ता के साथ सुना. उन्हें ताज्जुब नहीं हुआ.

शेखजी को गिलास पेश किया गया. उन्होंने पहले झटके में तीन-चार बार मुंह मारा.

"आप कहां जा रहे हैं?" सज्जन ने पूछा.

"जहां गाड़ी जा रही है."

"किसलिए जा रहे हैं?"

"रोजी के लिए जा रहा हूं."

"जिंदगी में और क्या करना चाहते हैं?"

शेखचिल्ली अब बाहर देख रहे थे. बोले, "देखिए, वहां पेड़ और पहाड़ अपने सायों में तब्दील हो गये हैं."

सज्जन हाथ में गिलास लिये हंसे. सिर्फ हंसे.

▣

. . . क्या सोते ही रहोगे नौजवान? दिल्ली आ गयी. सज्जन ने उन्हें जगा दिया. उन्होंने आंखें खोलीं, डिब्बे के भीतर और बाहर आदमियों का शोर था. वे झटपट उठ बैठे, अपना बोरिया-बिस्तर संभालने लगे.

दो अदद के दो रुपये कुली ने छीन लिये, झगड़ने पर उतारू हो गया. उसने कहा, "पुल पर तुम्हारा बिस्तरबंद खुल गया था, उसे भी मैंने बांधा, उसके पैसे नहीं ले रहा हूं." सभ्य शेखचिल्ली तीन पहियों के वाहन पर सवार हुए और चालक से कहा, "करोलबाग ले चलो." फिर कुछ घबराहट से पूछा, "मुझे रामधुन लॉज जाना है, वहीं ले चलो." चालक ने पीछे बैठी सवारी को घूमकर तेज आंखों से देखा, फिर दांत निकालकर बोला, "उत्थेई चलो, बाश्शाओ." वह ले चला. एक परिक्रमा कनाट-सर्कस के गोल चक्कर की ली, फिर वेलिंगटन अस्पताल और शंकर रोड घूमता हुआ करोलबाग ले आया.

सारे रास्ते शेखजी शहर को बच्चों की तरह निहारते रहे, सुबह-सुबह कनाट-सर्कस का गोल चक्कर खाते हुए उन्होंने सोचा, कितनी सुंदर है हमारी राजधानी!

रामधुन लॉज के सामने वाहन रुक गया. लॉज के नौकर ने सामान उतारा. फिर शेखजी ने चालक से पूछा, "कितने पैसे?"

"नौ रुपये नब्बे पैसे." उसने पक्की आवाज में और घुन्नी नजर से कहा.

शेखचिल्ली चौंके. उन्होंने सोचा, तीन-चार रुपये और मिलाकर वापस अपने शहर लौट सकता. उसी गाड़ी के धुआं उगलते इंजन से लिपट जाता, 'भइया, मुझे वापस ले चलो.'

"कैसे?" उन्होंने पूछा.

"प्राजी, मीटर देख लो. आठ रुपये नब्बे पैसे मीटर दे और एक असबाब दा."

"कहां है मीटर?"

"ऐ देखो." उसने हैंडिल के नीचे लगे एक कुतुबनुमा जैसे गोल डिब्बे की तरफ इंगित किया.

चिल्ली को इबारत ठीक से समझ न आयी. फिर उन्होंने एक हाथ में अटकल और दूसरे में साहस लेकर कहा, "इसमें तो तीन रुपये दस पैसे हैं."

"उसका तीन गुना और साठ पैसे एक्सट्रा." वह बत्तीसी निकालकर मुस्कराया. उसके दांत सफेद थे."

"यह कहां लिखा है?" चिल्ली चीखे.

"चार्ट में." आवाज ठंडी थी.

"चार्ट दिखाओ."

"ओ तो असी घरी पुल्ल गये." वह फिर हंसा.

"पुल्ल गये? क्या मजाक है?" उन्होंने चारों ओर खाली सड़क और मकानों को देखा.

चालक अब फौलादी आवाज में बोला, बाबूजी पैसे ढिल्ले करो. . .तंग न करो. वह शेखजी की तरफ एक कदम और बढ़ आया था और आग्नेय नेत्रों से देख रहा था. वह हट्टा-कट्टा था, चिल्ली से तीन-चार इंच ऊपर था.

शेखचिल्ली ने एक बार फिर चालक की जंगली आंखों में आंखें डाल के देखा, उन्हें लगा, आबरू खतरे में है. ले भई पैसे, नोच ले मुझे, खसोट ले मुझे, हरामजादे.

छह

शेखचिल्ली सुबह-सुबह, दिल्ली की सुबह, नौकरी के पहले दिन पर चले. गुरुद्वारा रोड का बस-स्टॉप गुलजार था. एक बस आयी. सब दौड़े, शेखचिल्ली भी दौड़े. सब एक साथ चढ़े. शेखचिल्ली भी उनके साथ चढ़े. रेले में बस के एक कोने से जा लगे. तब सांस ली. सांस ली तो खयाल आया, बस कहां जाती है. पूछा ही नहीं. अपनी छाती पर चढ़ी आती पीठ से पूछा, "क्यों साब, यह बस कनाट-प्लेस जायेगी."

"नहीं."

"नहीं. . .! फिर?"

"दफ्तर? किसका दफ्तर?"

सामने पीठ पर एक मुस्कराता चेहरा पीछे घूमा, "हिंदुस्तान का दफ्तर. तुमने देखा नहीं?"

"न. मगर यह कौन-सी कंपनी है?"

आदमी पूरा घूम गया. बोला, "तुम्हें जाना कहां है?"

"मुझे कनाट-प्लेस में कोहिनूर और कोहिनूर में चांद-सितारे जाना है."

"वहां काम करते हो?"

"हां."

"फिक्र न करो. हिंदुस्तान से 009 बस ले लेना. वह तुम्हें सीधे चांद-सितारे ले जायेगी."

एकाएक कंडक्टर चीखा, "जिसने टिकट न लिया हो, ले ले. चिल्ली के पास खड़ी एक बुढ़िया चीखी, "मुझे." चिल्ली बोले, "मुझे भी." आवाजें भीड़ और खरखराहट में डूब गयीं. शेखजी ने जुंबिश जरूर की, लेकिन वे आगे नहीं बढ़ सकते थे. कंडक्टर अपनी सीट पर इत्मीनान से पसरा बैठा है.

एक इंस्पेक्टर आया. बिना टिकट यात्रा के जुर्म में बुढ़िया और शेखचिल्ली को पकड़ लिया. दोनों अभियोगी एक दूसरी बस में ले जाये गये. शेखजी ने ऊपर चढ़कर देखा, यही अदालत थी.

मजिस्ट्रेट बर्फ-सी ठंडी आवाज में बोला, "आपने टिकट क्यों नहीं लिया?"

"कितनी भीड़ थी. कंडक्टर मेरे पास आया नहीं."

"आपको उसके पास जाकर टिकट लेना चाहिए था." आवाज वैसी ही ठंडी थी.

"कह तो रही हूं बस में लोग ठुसे थे, हिलने की जगह नहीं थी." बुढ़िया जैसे कराही.

शेखचिल्ली कटघरे के बाहर खड़े थे, उनका खून एकदम भनभनाया. वे चीखे, "वह ठीक कह रही है." उनके पास इंस्पेक्टर खड़ा था. उसने बाजू पकड़कर डांटा, "तुम चुप रहो जी." चिल्ली ने उनकी तरफ झल्लाहट से देखा, वह पहले से लाल आंखें दिखा रहा था.

उधर निर्णय सुनाया गया—दो रुपये.

बुढ़िया कटघरे से बाहर आकर आंखों से आंसू और अंटी से पैसे निकाल रही थी जब, चिल्ली मेज के पास पहुंचकर तपाक से बोले, "श्रीमान, दि. प. नि. के तीस पैसे मारने की

पृष्ठ 62 पर जारी . . .

कविचर्या

• रवींद्रनाथ त्यागी

आप चाहे सहमत हों या नहीं, संस्कृत के शास्त्रकारों का यह निश्चित मत था कि संसाररूपी विष वृक्ष के दो ही फल हैं, जो कि मधुर हैं और बाकी जितने फल हैं, वे बेकार हैं. गीता में इसी कारण 'मा फलेषु कदाचन' कहकर फलों के खाने पर आपत्ति उठायी गयी. जिन दो मीठे फलों की चर्चा ऊपर की गयी है, वे हैं काव्यामृत का रसास्वाद और सज्जनों का सहवास. कुछ विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों को छोड़कर, जो कि मेरी रचनाएं नियमित रूप से छापते हैं, बाकी कोई सज्जन तो बचा नहीं, हां अलबत्ता काव्य का अमृत अभी भी विद्यमान है और आप चाहे जितना उसका पान कर लें और बाकी दूसरों के लिए छोड़ दें. मगर काव्यामृत का आनंद लेना भी कुछ रसिक लोग ही जानते हैं, सब नहीं. एक शास्त्रकार के अनुसार अधरों की मधुरता, स्तनों की दृढ़ता, नेत्रों की चंचलता व कविता के परिपाक को केवल अनुभवसिद्ध रसिक ही जानते हैं, शेष नहीं. आप ऊपर बताये गये क्रम से अपना अनुभव प्रारंभ करें और बाकी चीजों से छुट्टी पाकर कविता पर आयें. साहित्य दर्पण के अनुसार कविता का जो आनंद है, वह अलौकिक है और इसी कारण उसे ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है. ब्रह्मानंद से अर्थ जो है, वह ईश्वर से है, न कि स्वामी ब्रह्मानंद सरस्वती से, जिनको कि एक प्रतिष्ठान की कुछ राशि को लेकर सेशन जज ने कुछ साल का कड़ा कारावास दिया. सुबंधु के अनुसार अच्छे कवि की वाणी को सुनते ही आप पुलकित हो उठते हैं, उसका अर्थ समझने की जरूरत ही नहीं पड़ती. जो तुकबंद हैं, उनकी बात अलग है, वे कभी कवि नहीं कहला सकते. यदि वे भी कवि कहलाने लगे तो कभी कुम्हार भी अपनी तुलना ब्रह्मा से कर सकता है, क्योंकि मोटे तौर पर दोनों ही सृष्टि करते हैं. बिल्हण ने कहा था कि राजा लोगों को उचित होगा कि वे कवियों को कभी अप्रसन्न न करें. अच्छे कवि की पहचान बताते हुए शास्त्रकारों ने कहा कि श्रेष्ठ कवि वे हैं, जिन्हें अपनी कविता के अतिरिक्त और कवियों की कविताएं भी अच्छी लगती हों. यदि इस मानदंड को पकड़ा जाये तो कम से कम हिंदी में तो कोई श्रेष्ठ कवि इस वक्त है नहीं, पहले रहा हो तो दीगर बात है. 'जे पर भनिति सुनत हरषाई, ते नरवर थोरे जग माहीं.' जो कवि दूसरे कवियों के काव्य से चोरी करते हैं—जैसा कि फिलहाल मैं कर रहा हूं—वे भी दूसरे श्रेष्ठ कवियों को कोई हानि नहीं पहुंचा सकते, क्योंकि देवताओं ने समुद्र से इतने रत्न निकाल लिये, पर वह है कि अभी भी रत्नाकर कहलाता है. प्रतिभाहीन कवि की चर्चा करते हुए शास्त्रकार कहता है कि जिस प्रकार वेश्या का प्रेमी गालियों की परवाह नहीं करता, उसी प्रकार जो कवि सम्मेलनी तुक्कड़ कवि है, वह भी कविता रचते हुए छंद या अर्थ, किसी का भी ध्यान नहीं रखता. कवित्वहीन कवि जो हैं, वे तोते के समान हैं, वे केवल दूसरों की उक्तियों को दुहराते हैं. एक शास्त्रकार के अनुसार कवितारूपिणी युवती वैयाकरण के पास नहीं जाती, क्योंकि वह उसका पिता है, नैयायिक को नहीं वरती, वह भाई है, मीमांसा में निपुण को भी वह छोड़ देती है, क्योंकि वह नपुंसक होता है और मात्र छंद जाननेवाले के पास भी नहीं जाती, क्योंकि वह कुम्हार है. कवितारूपी जो युवती है, वह इस लेख के लेखक जैसे काव्य और अलंकार जाननेवाले को

ही पसंद करती है, आप जैसे लोगों को नहीं. श्रेष्ठ कविता की परिभाषा करते हुए एक शास्त्रकार जो हैं, वे नितांत प्रांतीयता के स्तर पर उतर आते हैं और कहते हैं कि कविता गुजराती सुंदरी जैसी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उसके पयोधर एकदम छिपे रहते हैं और उसे आंध्र प्रदेश की कन्या जैसा भी नहीं होना चाहिए, जिसके कि पयोधर एकदम खुले रहते हैं. अच्छी कविता को तो महाराष्ट्र की ललना की भांति होना चाहिए, जिसके कि स्तन आधे खुले हों और आधे छिपे हों. इस बार महाराष्ट्र जाऊंगा तो किसी ललना को ध्यान पूर्वक देखूंगा. हिम्मते मरदां, मददे खुदा.

अंग्रेजी में एक कहावत है, जिसके अनुसार कवि जो हैं, वे पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते, संस्कृत के शास्त्रकार भी यही मानते हैं. उनका कहना है कि रसीली, अलंकारों से सजी, सुंदर गतिवाली और स्वर्ण के समान आकर्षक वाणी और पत्नी बड़े पुण्यकर्म करने के उपरांत ही प्राप्त होती है. सरसा सालंकारा सुपदन्यासा सुवर्णमय मूर्तिः आर्या तथैव भार्या च न लभ्यते पुण्यहीनेन. मैं इस उक्ति पर प्रायः विचार करता हूं और सोचता हूं कि पिछले जन्म में मैंने न जाने कितने पुण्यकर्म किये होंगे, जो मुझे क्या आर्या और क्या भार्या दोनों ही अद्वितीय मिलीं. सुमित्रानंदन पंत थे, जिनकी आर्या तो निश्चित रूप से अनुपम थी, पर भार्या उन्हें क्या अच्छी और क्या बुरी, किसी प्रकार की भी नहीं मिली. इसके अतिरिक्त ऐसे भी कलाकार सीन पर मौजूद हैं, जिनके पास न तो काम की आर्या है और न काम की भार्या है, जब कि ऐसे भी कुछ लेखक हैं, जिनकी भार्या तो लाजवाब है, पर आर्या ऐसी है कि उनका साहित्य पढ़कर उनकी ठुकाई करने की इच्छा होती है

पुराने जमाने में कवि लोग जो होते थे, उनका रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा व दिनचर्या काफी नियमित और निश्चित किस्म की होती थी. शास्त्रकारों ने उनकी वेशभूषा और काव्यसृष्टि वगैरह की दिशा में काफी कठोर नियम बना रखे थे, जिनका पालन करना काफी कठिन था. राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' में कविचर्या का काफी विशद वर्णन किया गया है. इस कविचर्या के अनुसार कवियों को जरूरी था कि वे हर स्थिति में साफ और सुथरे रहें, उनके कपड़े-लत्ते ऐसे हों कि देखते ही लोग उन्हें पहचान जायें और उनका परिचय देने की किसी को जरूरत न पड़े. उनके हाथ और पैरों के नाखून भलीभांति कटे होने चाहिए और मुख में तांबूल का बीड़ा होना चाहिए. शरीर पर अंगराग होना उचित था और यह भी जरूरी था कि कविजी बेशकीमती सुंदर वस्त्र धारण करें और गले में सुगंधित पुष्पों की माला डालें. वे जब बोलें तो मुस्कराहट के साथ बोलें, शब्दों में वक्रोक्ति हो और बातचीत में सरसता हो. वस्त्रों के साथ-साथ कविजी का घर भी साफ-सुथरा होना जरूरी था. यह जरूरी था कि उनके विविध स्थान हों, जो छहों ऋतुओं में सुख देने वाले हों. घर के सामने रमणीय वृक्षों की वाटिका होनी जरूरी थी, जिसमें झरने, कमल, मोर, चक्रवाक और हंस इत्यादि होने जरूरी थे. स्थान ऐसा होना चाहिए था कि वहां रहकर कोई भी कवि हो जाये. स्त्रियों को जरूरी था कि वे संस्कृत और प्राकृत भाषा जानती हों. दासियां मागधी भाषा बोलती हों और कवि के सारे मित्र सभी भाषाओं के पूर्ण जानकार हों. इन तमाम मापदंडों को देखते हुए ऐसा लगता है कि आधुनिक भारत में तो रवींद्रनाथ ठाकुर और सुमित्रानंदन पंत को छोड़ कर और कोई शास्त्रसम्मत कवि हुआ ही नहीं. ये दोनों भी शायद पूरे कवि नहीं उतरते.

बकौल रवींद्रनाथ त्यागी—"संस्कृत के एक आचार्य के अनुसार आलोचक और उल्लू दोनों एक तुल्य होते हैं और उनके अनुसार यह निश्चय करना कठिन है कि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है."

शास्त्रकारों के अनुसार कवि को जरूरी था कि वह दिन-रात को चार भागों में बांटे और उनमें नियमित रूप से अपना जीवन काटे. यह नहीं कि जब भी कविता लिखने की इच्छा हुई, तभी लिखने बैठ गये. प्रातःकाल संध्यावंदन और विद्याभ्यास को दिया जाता था. मध्याह्न जो था, वह स्नान और भोजन के लिए था. तीसरा पहर काव्यगोष्ठी को देना उचित था और रात को काव्य की सृष्टि या पहले से लिखी हुई रचना की कांट-छांट की जाती थी. एक और रसशास्त्री ने काव्य की सृष्टि के लिए ब्राह्ममुहूर्त को श्रेष्ठ ठहराया है और यह भी सलाह दी है कि अधूरी रचना कवि किसी भी मित्र को न सुनायें. कवि के लिए यह भी जरूरी माना जाता था कि वह अपनी रचनाओं की आलोचना सुने और उन्हें ध्यान में रखते हुए अपनी कला को और परिमार्जित करे. निरालाजी जो अपने आलोचकों को पीट दिया करते थे, वह ठीक नहीं था. नयी पीढ़ी की कुछ लेखिकाएं जो अपनी पुस्तकें छपने पर साहित्यक पाधाओं को डिनर देती हैं, समीक्षकों की खुशामदें करती हैं, पत्रकारों को बुलाती हैं और अपने ग्रंथों का विमोचन करवाती है, वह एकदम शास्त्रसंगत है. सारी कविचर्या लिखने के बाद राजशेखर ने कवियों के मिजाज को ध्यान में रखते हुए उन्हें चार भागों में बांटा. 'असूर्यपश्य' कवि वह व्यक्ति कहा जाता था, जो अपने भूमिगृह में घुसकर कविता रचा करता था. उसके लिए समय का कोई बंधन नहीं, जब इच्छा हुई, तभी कविता करने बैठ गये. 'निषण्ण' कवि वह था, जो कि काव्य की सृष्टि निश्चित दिनचर्या के अनुसार करता था. 'दत्तावसर' मेरे जैसे उस कवि को कहते थे, जो काव्यसृष्टि के अतिरिक्त शेष काम भी करते थे और अवसर मिलने पर ही काव्य की रचना करते थे. चौथी किस्म के कवि 'प्रायोजनिक' कहलाते थे और वे सिर्फ वक्त जरूरत ही लेखनी को कष्ट देते थे. इधर आकाशवाणी से अनुबंध आया, उधर एकदम शाश्वत साहित्य लिख डाला.

सम्मेलन का निमंत्रण आया. कवि और कविता दोनों तैयार. आज भोपाल जा रहे हैं तो कल कलकत्ता और परसों बंबई. इन विविध कार्यक्रमों से जो समय मिला, उसमें एक दूसरे की टांग खींची या दारू पी ली. ज्यादा वक्त मिला तो किसी कन्या को छेड़ दिया. आखिर अपनी देह के लालच में बेचारे कविधर्म को तो नहीं छोड़ सकते. पुराने कवि ऐसा कभी नहीं करते थे. इस संदर्भ में कवि राजशेखर का परिचय देते हुए क्षेमेंद्र कहते हैं कि कर्नाटक देश की रमणियों के दंतक्षतों से युक्त, महाराष्ट्र देश की रमणियों के तीव्र कटाक्षों से जर्जर, आंध्र देश की प्रौढ़ स्त्रियों के स्तनों से पीड़ित, अपनी प्रियाओं के भ्रूभंगों से व्यथित, लाट देश की कामिनियों के आलिंगनों से युक्त, मलय देश की सुंदरियों की तर्जनी उंगलियों से निर्भत्सित राजशेखर कवि वृद्धत्व प्राप्त होने पर काशी निवास की अभिलाषा कर रहे हैं. सादा जीवन, उच्च विचार. इस परिचय से यह भी प्रकट होता है कि हमारे प्राचीन कवि प्रांतीयता से एकदम ऊपर थे.

अंत में चलकर शास्त्रकारों ने आलोचक नामक पक्षी की भी चर्चा की है. एक तरफ तो यह काफी जोर देकर कहा गया है कि श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि के लिए आलोचक का होना जरूरी है, क्योंकि कवि जो है, वह अपनी रचना की कमियां स्वयं नहीं देख सकता. कवि तो अपनी रचना का पिता है, वह कन्या के सच्चे सौंदर्य का उपभोग कैसे कर सकता है? सच्चा सौंदर्य जानने के लिए तो पाठक या आलोचक चाहिए, जो कि उस रचना का पति है. कविः करोति काव्यानि, पंडितो वेत्ति तद्रसम; कामिनी कुच काठिन्यं पतिर्जानाति नो पिता. दूसरी तरफ यह भी बराबर बताया गया है कि ईमानदार आलोचक बहुत मुश्किल से मिलते हैं. एक कवि ने कहा है कि ऐसा व्यक्ति जो कविता के गुण-दोष ठीक प्रकार जानता हो, स्वयं भी कवि हो और साथ ही साथ द्वेषी न हो, बड़ी कठिनता से मिलता है. जैसा कि आप लोगों को पता होगा, महाकवि भवभूति तक को आलोचकों ने कष्ट पहुंचाया था और उन्हें विवश होकर लिखना पड़ा था कि काल अनंत है, और पृथ्वी विपुल है और इसी कारण संभव है कि कभी कोई ऐसा भी रसिक व्यक्ति पैदा हो, जो मेरी रचनाओं को भली प्रकार समझ सके. जब तक ऐसा समानधर्मा मिले, तब तक चुपचाप लिखते जाओ और निश्चित रहो.

संस्कृत के एक आचार्य के अनुसार आलोचक और उल्लू दोनों एक तुल्य होते हैं और उनके अनुसार यह निश्चय करना कठिन है कि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है. जिस प्रकार उल्लू जो है, वह दिन में केवल अंधकार ही अंधकार देखता है, उसी प्रकार आलोचक जो है, कवि की कृति में केवल दोष ही दोष खोजता है. एक और पशुप्रेमी आचार्य हैं, जो आलोचक की तुलना ऊंट से करते हैं, क्योंकि ऊंट जो है, वह परम सुंदर केलिवन में जाकर भी कांटों की ही खोज करता है, फलों की नहीं. ऐसे आलोचक प्रवरों पर प्रहार करता हुआ एक कवि कहता है कि हे समालोचक महोदय, तुम मुझे धान की भांति समझो; मुझ पर जितने भी मूसल पड़ेंगे, मैं उतना ही और साफ होता जाऊंगा. पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं कि जो कवि जितना अधिक श्रेष्ठ होगा, उसके काव्य में दोष पाना उतना ही अधिक सरल होगा, क्योंकि वस्त्र जितना भी धुला हुआ होगा, उस पर पड़े हुए काजल के धब्बे उतनी ही सरलता से देखे जा सकेंगे. राजशेखर कहते हैं कि यद्यपि आलोचक प्रायः दुःष्ट और द्वेषी होते हैं, पर फिर भी उनका होना आवश्यक है, क्योंकि उनके अभाव में यह कौन बता पायेगा कि कौन बड़ा है और कौन छोटा? श्रेष्ठ आलोचक की परिभाषा में बताया गया है कि वह निष्पक्ष हो, काफी कवियों की वाणी पढ़ चुका हो, स्वयं काव्य करने में असमर्थ हो और मन से रसिक हो. स्वयं काव्य करने में असमर्थता का गुण आलोचकों में प्रायः पाया जाता रहा, जो कि एक संतोष की बात रही. एक शास्त्रकार के अनुसार निष्पक्ष आलोचक और चरित्रवती युवती मिलना कठिन है. इस उक्ति से पता लगता है कि पुराने जमाने में भी गुटबंदी चलती थी और कसकर चलती थी. सुबंधु कहते हैं कि एकमात्र सच्चा आलोचक समय है. काल जो है, वह अपने आप यह निश्चित कर देता है कि कौन कवि श्रेष्ठ है और कौन सामान्य. उनका कहना है कि सुंदर और सच्चा प्रेम करने वाली युवती को अपने माता, पिता या पति से नहीं डरना चाहिए और उसी प्रकार सच्चे कलाकार को भी यह उचित होगा कि वह आलोचक की एकदम उपेक्षा करे और चरित्रवती युवती की भांति सबके सामने अपने काव्य की सृष्टि करता रहे. चरित्रवती युवती से अर्थ उस युवती से है, जो निर्भय होकर अपने प्रेमी से खुलेआम मिलती है और इस संदर्भ में अपने माता-पिता या पति की परवाह नहीं करती. यह दुख की बात है कि ऐसे कवि और ऐसी युवतियां आजकल प्रायः कम देखने को मिलती हैं. श्रेष्ठ वस्तुएं सदा कम होती आयी हैं.

कविचर्या संबंधी इस प्रबंध को समाप्त करने से पूर्व यह उचित होगा कि सरस्वती का स्मरण उचित रूप से कर लिया जाये. एक अनुभवी शास्त्रकार के अनुसार सरस्वतीजी जो हैं, उनके एक स्तन में संगीत छिपा है और दूसरे में साहित्य. कितनी सुंदर परिभाषा है, लेकिन यदि आपको कहीं कोई रूपवती युवती दिखाई पड़े तो आप इस परिभाषा के अनुसार उसको सरस्वती न जांचने बैठ जायें. मेरी यह सलाह आपकी सेहत के लिए फायदेमंद होगी. □

● कंट्रोलर डिफेंस एकाउंट्स (वा. से.)
107 राजपुर रोड, देहरादून

आधी सच्ची, आधी झूठी

▣ कृष्णप्रकाश चौधरी

"बाबा! एक ऐसी कहानी सुनाओ जो आधी सच्ची हो आधी झूठी हो!" बच्चे ने कहा.

बाबा ने जो कहानी सुनाई वह इस प्रकार है—"एक पुलिस अफसर था, और वह बहुत ही ईमानदार था." □

शरद उवाच

उर्फ बोले शरद जोशी आज की पत्रकारिता पर

'आज की पत्रकारिता' पर बोलने के लिए मुझे क्यों कहा गया? सूचना मंत्री को क्यों नहीं दिया गया यह विषय या किसी पूंजीपति को क्यों नहीं दिया गया? आप लोगों ने सोचा होगा कि यह शख्स भी कभी पत्रकार रहा है—खुद को गाली दे लेगा.

मैं कहता हूं कि अरुण शौरी या श्री राजेंद्र माथुर की बात छोड़ दीजिए, पर आम पत्रकार की हालत खराब है. सबसे उसे मधुर संबंध रखना है, क्योंकि खर्चा है, परिवार है, अखबारवाले इसकी चिंता नहीं करते कि मूल रूप से जहां से खबरें मिलती हैं, उसकी स्थिति क्या है?

अखबार एक 'खिड़की' है. खिड़की से आप झांक रहे हैं और सारे संसार को देख रहे हैं. अंग्रेजी में एक 'शो विंडो' शब्द भी होता है. आपको शो विंडो दिखायी जाती है. पूरे समय आप अखबार से यह नहीं समझ पाते कि आप क्या देख रहे हैं. एक अखबार, जिसका आधा हिस्सा विज्ञापन घेरे रहता है, आधे पर सारी दुनिया कब्जा जमाना चाहती है. वह यथार्थ से दूर है.

इस देश की आजादी के बाद—हमें अंतर्राष्ट्रीय खबरें मिलती हैं—35 साल बाद भी हम बड़ी-बड़ी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों पर निर्भर हैं. एजेंसियां, बड़े-बड़े हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं. हमारा संवाददाता काम नहीं करता.

आप एक पत्रकार खरीद लीजिए—और एक सच्चाई को खरीद लीजिए. सोचिए, लाखों लोग सुबह-सुबह, सच्चाई की खबरों की प्रतीक्षा करते होंगे. हम सोचते हैं कि न जाने कौन-सी सुबह होगी, जब सच्चाई का अखबार मिलेगा.

मैं उर्फ शरद जोशी, जब सरकारी कर्मचारी था, तब का एक किस्सा सुनाता हूं, हमारे एक मंत्री महोदय झाबुआ के दौरे पर आये थे. मैंने कलेक्टर से मंत्री को वहां का एक खस्ता हाल स्कूल दिखाने का अनुरोध किया, पर काजू को स्कूल की अपेक्षा प्राथमिकता दी गयी. "काजू से डालर मिलेंगे, इस स्कूल से क्या मिलेगा?" अधिकारी का उत्तर मिला. मंत्री महोदय को भी बताया जा रहा था कि झाबुआ जिले से डालर मिलने वाले हैं. मैं भी एक सरकारी कर्मचारी था. इसलिए सच बात नहीं लिख पाया. सिर्फ झाबुओं को डालरों का दिया जाने वाला स्वप्न देखता रहा.

सरकारें, संस्थाएं, टाटा, बिड़ला प्रयास करते हैं—अखबारों में अपने समाचार का, और सारे घटाटोप के बीच आप कुछ सच्चाइयां हासिल कर लेते हैं. वे व्यथित करने के लिए, पीड़ा, सिरदर्द के लिए काफी होती हैं. ऊपर की जो मिठास है—उससे आपको यथार्थ का ज्ञान नहीं हो पाता.

सन् 47 के पूर्व भगतसिंह, गणेश शंकर विद्यार्थी के समय पत्रकारिता व्यवसाय नहीं थी. पूरे देश में जो पत्र निकलते थे, उनमें राष्ट्रीयता की भावना थी. पत्र निकालना—जिंदगी भर एक तकलीफ को उठाना था. माखनलालजी का पत्र था—जिसमें हमारा पूरा देश आजाद हुआ. सेठ गोविंद दास ने नंगे पैर आये एक लड़के का उल्लेख अपने संस्मरण में किया है; द्वारका प्रसाद मिश्र थे—डी. पी. मिश्र—उनका भी बुनियादी आकर्षण अखबार थे. यह अखबार हमारी पूरी गतिविधियों के केंद्र थे. व्यवसाय नहीं थे. स्वतंत्रता के तीसरे-चौथे वर्ष ही, मालिकों को पता चल गया कि हम आज राजनीति में भी कुछ कर सकते हैं. अब अखबार पूरे धंधे की नीति के साथ चलता है. अंग्रेजी अखबार का विषय हो गया है फिल्म. वह राजनीति, सेक्स की चर्चा

करता है. वहां आचार्य रजनीश, अमिताभ बच्चन, जीनत अमान, ऐंटर द ड्रेगन पढ़ने को मिलेगा. बंबई के कोठों की सैर होगी. जींस आदि रसीला मैटर बेचा जायेगा. इससे हिंदी पर भी प्रेशर आने शुरू हुए और आ गये.

▣

मैं 'हिंदी एक्सप्रेस' के संपादक के रूप में बंबई रहा. मैं बताऊं कि कैसे मैंने मुखपृष्ठ पर लड़की के फोटो दिये. मैंने क्या किया—पहले अंक में ही एक भोंड़ा चित्र (लड़की का) छाप दिया, दूसरे, तीसरे, चौथे अंक में भी ऐसा ही दिया और उसकी आलोचना के पत्र प्रबंधकों को बता दिये. उसके बाद पहली बार मैंने अपनी मर्जी का फोटो—एक महिला मजदूर का, मुखपृष्ठ पर दिया.

'हिंदी एक्सप्रेस' में जाकर मैंने अनुभव किया कि हिंदी वहां कितनी अपमानित, सहमी-सी कोने में बैठी हुई है और हम नंगी तस्वीरें छाप देते हैं. एक पूरे परिवार को टेक पर लगाया जा रहा है—कुछ करोड़ या लाखों कमाने के लिए. और कलाकार भी कितना खामोश है, क्योंकि उसे फिल्म को सफल बनाना है, माल की बिक्री करनी है.

मैं आपसे पूछता हूं कि इस देश में कौन है आपके पास, सच्चाई सामने लाने के लिए? पत्रकारिता ही आपके पास है. नेता आपका भ्रष्ट है. अब तो वह पहले ही भ्रष्ट होता है, चुनाव से ही भ्रष्ट हो जाता है. जिस नेता पर आप विश्वास करते हैं, वह आपका नहीं. शिक्षक से कहा जायेगा, आप राजनीति मत चलाइए. मजदूरों, विद्यार्थियों से कहा जायेगा—चुनना है, चुनिए, नेता बनिए, पर राजनीति मत सीखिए. आम आदमी विहीन राजनीति कर दी गयी है. केवल उच्च-वर्ग अपने स्वार्थ को पूरा कर सकता है. आपके पास केवल एक आदमी—लेखक, पत्रकार, बुद्धिजीवी रहता है, पर तय करना होगा, किसके साथ, किसके लिए? राजा के साथ लेखक-इतिहासकार रहे, पर युद्ध के उस जलते हुए गांव का बुद्धिजीवी भी है. सफल कौन है? इतिहास के हर दौर में बुद्धिजीवी को तय करना होता है कि वह किसके साथ है?

शर्मिंदगी की स्थिति में, हमारा पत्रकार जीता है. हिंदी में पत्रकार की स्थिति अनुवादक की हो गयी है. हमारा मौलिक, जो कुछ है, वह 'पत्र संपादक के नाम' स्तंभ में दिख जाता है.

हमारा समाज भी गजब का है, पढ़े-लिखे के प्रति भी हमारी धारणा उसके आर्थिक आधार पर है. चाहे वह कोई अच्छा कलाकार-लेखक है, अगर उसके पास कार, स्कूटर, नहीं तो कद्र नहीं. उसकी भौतिक सफलता को अधिक महत्व दिया जाता है.

▣

ट्रेन में एक सज्जन से मेरी एक बार बहस हो गयी, उन्हें जब पता चला कि मैं एक लेखक-रायटर हूं तो बोले, "रायटर तो भूखे मरते हैं साब." मैंने कहा, "मियां, मुझ जैसा इस देश में एक ही है. पैसा तो चालाकी से भी कमाया जा सकता है." मैं ठहरा ठेठ हिंदुस्तानी आदमी, भिड़ गया कि मैं तो गरीब होकर ही मरना चाहता हूं. अंत में वह शर्मिंदा हुए.

यह हमारे देश का प्रतिनिधि चरित्र है, आदमी को आर्थिक आधार पर तौलने का. यही स्थिति है हमारे पत्रकारों की.

हमारे सारे पत्रकारों को कांशस कर दिया गया है कि आप अखबार को सजाकर, संवारकर निकालिए. माखनलाल चतुर्वेदी, तिलक या गांधी के 'हरिजन' को इसकी चिंता नहीं रहती थी.

'मेक्सिको' में क्या हो रहा है? यह आपको नहीं बताया जायेगा. आपकी इतनी औकात है? हर पत्र को संकीर्ण, क्षेत्रीय कर दिया गया है. पहले हमारा दिल उदार था. आदमी की पूरी मानसिकता को संकीर्ण, सजावटी कर दिया गया है. हम उसको झेल रहे हैं, भोग रहे हैं.

▣

मैं पूछता हूं कि अमिताभ-जया के बारे में गुपचुप खबरें क्यों छपा करती हैं. बंबई में संदेह का वातावरण है. अमिताभ बच्चन, जया को छोड़ने वाला है. उसके पीछे एक घटिया-सा इरादा था कि लोग 'सिलसिला' देखें—यह सच्चा मामला था.

मैं आपसे भी पूछना चाहता हूं कि आप अपने पत्रकार को क्या ताकत दे रहे हैं? आपको सच बोलना है? लेखक, कल्पना कर सकता है, मैं हंसा सकता हूं, पर पत्रकार नहीं. आप उसे क्या दे रहे हैं? खरीददार आप हैं, आप मालिक से कह सकते हैं कि उस दूकान में जो ईमानदार कर्मचारी हैं, उन्हें रखिए. शिक्षक, नेता चला जायेगा. दिल्ली में कोई समझौता कर ले, आप उससे सहमत हैं कि असहमत, इससे किसे सरोकार है? इस देश में, सच्चाई की एक ज्वाला जलाये रखने की कोशिश करिये, नहीं तो आप देखेंगे—राजनीति पर पढ़ने को कम मिलेगा, जीनत अमान के बारे में ज्यादा. यह देश आपके साथ चला जायेगा, विदेशों में ऐसा हुआ है. नकली प्रजातंत्र भी यह लोग पैदा कर सकते हैं. नकली तमाशा चल रहा है देश भर में. ऐसी स्थिति में, राजनीति भी आपके हाथ से चली जायेगी. आप असहाय हो जायेंगे.

मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि राजनीतिक दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए. यह बात केवल कविता के लिए नहीं कह रहा. आप ट्रक चलाते हैं तो भी कहना चाहता हूं. जिस कुएं से आप पानी ले रहे हैं, उसका साफ होना आवश्यक है. यह सब मैंने एक पाठक के नाते, जो एक संपादक के नाते अनुभव किया, वही कह रहा हूं. सोचना और करना आप पर मुनहसर है. □

प्रस्तुति : पंकज शुक्ल

बदलाव के लिए तलवार की धार नहीं, छंद की मार चाहिए !

▣ भवानीप्रसाद मिश्र

कविता उपदेश के लिए नहीं है. आज हमें उपदेश नहीं, अपना देश चाहिए. देश की हालत बहुत खराब है. उसे बदलने के लिए कई मोर्चों पर लड़ना पड़ेगा. कविता भी उनमें से एक मोर्चा है. दुनिया और किसी चीज से नहीं, शब्द से बदलेगी. इसके लिए तलवार की धार नहीं, छंद की मार चाहिए.

आजकल के बड़े कवि छंद छोड़कर लिखने का एक तमाशा कर रहे हैं, लेकिन हमारी बोली में जो लय है, उसका छंद सबसे बड़ा है, अगर हमारी कविता में हमारी बोली नहीं बजती तो कविता गूंगी हो जाती है. ऐसे ही गूंगे कवि, जिन्हें मैं भी नहीं समझ पाता, आजकल बड़े कवि कहे और माने जा रहे हैं. कविता बड़ी मुश्किल चीज है. सारी जिंदगी में भी यदि एक कविता ठीक से बन गयी तो बड़ी बात है

सूर और मीरा के पद अभी तक टिके हुए हैं, लेकिन आनंद बक्षी का गीत सुबह जन्म लेता है और शाम को मर जाता है, क्योंकि उसके पीछे उनका मन नहीं, केवल पैसा है. □

(5 जनवरी, 1982 की शाम भरकतिया क्रीड़ा समिति द्वारा रवींद्र नाट्यगृह, इंदौर में आयोजित एक सम्मेलन में पंडित भवानीप्रसाद मिश्र के विचार. सौजन्य : नयी दुनिया, इंदौर)

भूख क्यों नहीं मरती!

▣ फ़ज़लइमाम मल्लिक

"बाबा, वह लोग क्यों रो रहे हैं?"

"उनके घर कोई मर गया है बेटा."

"बाबा, यह मरना क्या होता है?"

"आत्मा का संबंध जब शरीर से टूट जाता है तो उसे मौत कहते हैं बेटा. . ."

"लेकिन ऐसा क्यों. . . ?"

"यह तो भगवान का कानून है. संसार की हर वस्तु को एक न एक दिन मरना ही पड़ता है बेटा. . ."

"बाबा, एक बात पूछूं. . . बुरा तो नहीं मानेंगे?"

"पूछो. . ."

"बाबा. . . ! भूख क्यों नहीं मरती?" □

● कुतुबुद्दीन लेन, दरियापुर, पटना-800007

संवेदना की राजनीति

▣ नंदल हितैषी

सालों तलुआ घिसने के बाद उसे क्लर्की मिल पायी थी. उसकी पत्नी ने राहत की सांस ली, कमसे कम अब उसे ताने सुनने को तो नहीं मिलेंगे.

पत्नी ने प्रस्ताव रखा, "क्यों न पहली पगार से गरीबों को कुछ दान-पुण्य किया जाये. क्या पता, उन्हीं के भाग्य से ये दिन देखने को मिले हों."

पहली पगार हथियाते ही उसने बिस्कुट, चाकलेट और डबल रोटियों के तमाम पैकेट खरीदे और बोरे में भरकर पत्नी के साथ झोंपड़पट्टी की ओर चला गया, जहां सर्वहारा वर्ग के कुछ परिवार मांग-जांचकर किसी तरह अपनी गुजर-बसर करते थे.

बोरा खुलते ही भीड़ लग गयी. आदमी, औरतें और बच्चों ने उन्हें चौतरफा घेर लिया. उसकी पत्नी हर किसी को पैकेट थमाती जा रही थी और बदले में ढेर सारी आशीषें बटोर रही थी.

आखीर में एक अधेड़ की बारी थी, कुछ दबंग किस्म का, शायद इस कबीले का सरदार. . .

अपना हिस्सा लेने के बाद उसने धीरे-से पूछा, "कौने निसान पे बोट देहिका पड़ी?" □

● 45 छोटा बगहारा, इलाहाबाद-211002

यह पुस्तक समीक्षा नहीं है!

महादेवी अभिनंदन ग्रंथ

▣ सुद्राराक्षस

अब लगता है कि वह जबर्दस्त बचपना था. साहित्य में वे अजीब रूमानी से दिन थे. नयी कविता शुरू नहीं हुई थी और प्रयोगवादी कविता महज अजूबे की तरह देखी जा रही थी. मैं इंटर में पढ़ रहा था और जैसा कि उन दिनों ज्यादातर निचले मध्यमवर्ग के लोगों के साथ होता था, मैं भी साहित्य जैसे विषय लेकर ही पढ़ रहा था. विज्ञान कुछ खर्चीला विषय पड़ता था. घर में अखबार तो आता नहीं था, फिर भी जाने कैसे मुझे सूचना मिली कि महादेवी वर्मा ने 'साहित्यकार संसद' नाम से संस्था बनायी है.

मैंने एक संस्था बनायी 'बाल साहित्यकार संसद'. यहां मेरा अनुरोध है कि 'मैंने संस्था बनायी' जैसे वक्तव्य से नाराज होने की जल्दबाजी न की जाये. वह संस्था सचमुच मैंने ही बनायी, गोकि क्यों, कब और कैसे बनायी, यह मुझे नहीं मालूम. उसके दो और (सदस्य नहीं) सहयोगी थे, जिनमें से एक विदेश में मनोवैज्ञानिक हैं और दूसरे लखनऊ में एक बड़ा व्यवसाय करते हैं. इन मित्रों में इस अभियान के प्रति सिर्फ इतना उत्साह था कि वे मेरी बहुत लंबी-चौड़ी बातें बिना गाली दिये सुन लेते थे. संस्था ने फैसला किया (यानी मैंने सोचा) कि महादेवी वर्मा का अभिनंदन होना चाहिए. पता नहीं 1951-52 तक श्रीमती वर्मा का कोई अभिनंदन हुआ था या नहीं. हमारी संस्था ने भी अभिनंदन तो नहीं किया, अभिनंदन ग्रंथ जरूर निकाला. अभिनंदन ग्रंथ भी निकला नहीं, तैयार हुआ.

फुलस्केप आकार का एक रिम केसरिया रंग का कागज आया. कुछ ड्राइंग पेपर भी.

महादेवी अभिनंदन ग्रंथ के लिए जैनेंद्रकुमार, प्रभाकर माचवे, मन्मथनाथ गुप्त, शचीरानी गुर्टू यहां तक कि महादेवीजी के भी खत मंगाये गये.

अभिनंदन ग्रंथ अगर अभी मौजूद हो तो खासी ही मस्खरी चीज होगा. उसमें कुछ तो लेख थे, जो हम तीनों ने लिखे थे. इसके अलावा कविताएं थीं, जो महादेवी की 'यामा' की तर्ज पर मैंने चित्र बनाकर लिखी थीं और भाषा शिल्प में बिल्कुल ही महादेवी वर्मा की अपनी कविताएं लगती थीं. सारा ग्रंथ कोई तीन-चार सौ पृष्ठों का था. उसको धागे से सिलकर दफ्ती की जिल्द चढ़ायी गयी थी और जिल्द पर सुनहरा कागज.

चूंकि हम लोगों के पास ज्यादा पैसा खर्च करने को नहीं था, इसलिए जिल्दसाजी मैंने की और सुनहली पन्नी के बावजूद वह खासी अनगढ़ थी. फिर भी, उसे हाथ में लेकर दूर से हम किसी अत्यंत भव्य चीज का चकमा दे सकते थे.

ग्रंथ तैयार हो गया. अब उसे महादेवीजी को भेंट करना था. मैं अपने एक साथी के साथ इलाहाबाद पहुंचा. किसी दूसरे शहर (कानपुर छोड़कर) जाने का मेरा पहला मौका था. यात्रा सर्दी के मौसम की थी. हम लोहे के बक्सों में अपना ढेर सा सामान लेकर चले थे, जिसको ढोना भी खासा मुश्किल काम था.

हम दोनों इलाहाबाद सुबह पहुंचे और स्टेशन से सीधे महादेवीजी के घर पहुंच गये. महादेवीजी उन दिनों लड़कियों के किसी कालेज की प्रिंसिपल थीं और उनके यहां सिर्फ औरतें ही जा सकती थीं, पर हम तो पहुंच गये थे.

उनकी बैठक में शीशे के डिब्बे में बंद बांसुरीवादक कृष्ण को देखते हम लोग काफी देर बैठे रहे. तब महादेवीजी नहा-धोकर आयीं. हम लोगों ने बिना किसी औपचारिकता के निहायत बेशऊरी के साथ वह मोटा अभिनंदन ग्रंथ पेश कर दिया. महादेवी प्रसन्न हुईं. थोड़ी देर बाद लगा, वे और प्रसन्न हुईं. तब उन्होंने डॉ. रघुवंश और आत्मारामजी को बुलाया. वे एक छोटी-सी काली गाड़ी लाये या वह मोटर महादेवीजी की ही थी, यह मुझे नहीं मालूम है. यह याद है कि उसी मोटर पर महादेवी हम दोनों को साहित्यकार संसद की इमारत दिखाने ले गयीं. मोटर में चढ़ने का मेरा यह पहला मौका था. इससे पहले मोटर छुई थी, उस पर चढ़ने की सोची नहीं थी. जाते वक्त हम दोनों के बक्से मोटर में ही लाद लिये गये थे और जब मोटरगाड़ी वापस हुई तो हम लोग महादेवीजी के यहां नहीं, डॉ. रघुवंश के यहां थे. उस दिन हम निराला जी से भी मिले, क्योंकि वह बसंत पंचमी का दिन था और लोगों की ऐसी धारणा थी कि वह निरालाजी का जन्मदिन भी था. यह भेंट बहुत बड़ी गड़बड़ी से शुरू हुई. निरालाजी ने पहला ही सवाल अंगरेजी में किया, "डॉक्टर साहब कैसे हैं?"

मैं डाक्टर के नाम पर लखनऊ के डाक्टर हुक्कू को जानता था, जिन्हें देखा कभी नहीं था, क्योंकि मेरे घर में दवा आती थी तो किसी वैद्य के यहां से. निरालाजी ने सवाल फिर अंगरेजी में पूछा था. हम दोनों के गले सूख गये. तब तक निरालाजी ने एक और हथगोला छोड़ दिया, "महादेवी के पति कैसे हैं?" यह सवाल भी अंगरेजी में था. महादेवीजी के कोई पति हैं, यह सवाल स्वयं ही हमारे लिए भारी असमंजस पैदा कर रहा था, ऊपर से अंगरेजी. हमारे गले और सूख गये. गनीमत रही कि तब तक निरालाजी खुद भूल गये थे कि उन्होंने हमसे क्या पूछा था. □

● ए-206 सेक्टर 5, इंदिरा नगर, लखनऊ

उपचारक

▣ अजीज ले सिन

तुर्की फंतासी

किसी समय भूमंडल के किसी भाग में एक ऐसा देश बसा हुआ था, जिसका वर्णन आज न भूगोल की किसी पुस्तक में मिलता है न इतिहास में.

सुनते हैं, एक समय ऐसा आया, जब देखते-देखते ही उस देश के सभी वासियों की शारीरिक आकृति में कुछ प्रत्यक्ष परिवर्त्तन प्रकट होने लगे. पहले तो लोगों के सिर पिचकने शुरू हुए और पिचकते-पिचकते कंधों के बीच इतने धंस गये कि गर्दनें बिल्कुल लोप हो गयीं. फिर प्रत्येक व्यक्ति की कमर में कुबड़पन प्रकट होने लगा, जिसने बढ़ते-बढ़ते सारे राष्ट्र की कमरें दुहरी करके रख दीं. अंत में लोगों के लिए कदम उठाकर चलना दूभर हो गया, और उन्होंने जमीन पर पांव घसीट-घसीटकर चलना शुरू कर दिया. देखने वालों को यों लगता, जैसे देश की सारी जनसंख्या किसी असाधारण बोझ तले दबी जा रही है, और लोगों के पांव भारी-भरकम जंजीरों में जकड़ दिये गये हैं. बहुत समय न बीता था कि हर छोटे-बड़े, पुरुष-स्त्री ने कराहना शुरू कर दिया. सबके मुह से यही वाक्य सुनाई दिये, "उफ्! अब नहीं खींच सकते! हाय! अब नहीं उठा सकते!" शनैःशनैः यह वाक्य चीख-पुकार में बदल गये.

जब जनता के कराहने की आवाज सातवें आसमान तक सुनाई देने लगी, तब जाकर तत्कालीन शासक के कानों तक भी यह करुण आवाजें पहुंचीं. उसने उद्विग्न होकर मुसाहिबों से पूछा, "हमारी मीठी नींद में खलल डालनेवाली यह घृणित आवाजें कहां से आ रही हैं?"

निवेदन हुआ, "महाराज! यह आपकी प्रजा की पुकार है. आरंभ में जब यह आवाजें हमारे कानों तक पहुंची थीं, तो हमने उन्हें हवा की सरसराहट समझकर नजरअंदाज कर दिया था. जल्दी ही वह सरसराहट भनक में बदल गयी, पर हमने फिर भी कान न धरे. जब वही भनक बढ़ते-बढ़ते शोर में बदल गयी तो हमने कानों में उंगलियां ठूंस लीं कि शायद यूं ही इस शोर से छुटकारा मिल जाये. अब क्रमशः वही शोर हंगामे का रूप अपना चुका है. अगर महाराज आज्ञा दें तो हर व्यक्ति के गले के कुछ ध्वनि-तार काट दिये जायें, ताकि लोगों की ऊंची चीख-पुकार महाराज को अशांत न कर सके."

शासक ने डांटकर कहा, "हम मध्य युग के नहीं, वर्तमान युग के वासी हैं. तुम लोग बीते हुए कल की बात न करो. आज का दिन आते ही कल का दिन दफन हो जाता है. हमें रूढ़िवादी उपचार प्रस्तावित करने के बजाय देश में मुनादी

करा दो कि सारी प्रजा राजधानी के बड़े मैदान में एकत्र हो जाये, ताकि महाराजा अपनी प्रजा से संबोधित हो सकें."

अगले दिन प्रजा मैदान में एकत्र हो गयी. शासक ने पहली बार प्रजा के कंधों में धंसे हुए सिर और झुकी हुई कमरें देखीं. उसने विस्मित होकर सहानुभूतिपूर्ण स्वर में पूछा, "बताओ, तुम लोगों को क्या कष्ट पेश आ रहा है?" उपस्थित जनता ने एक स्वर होकर वही वाक्य दुहराये, "अब हम नहीं खींच सकते!"

तत्कालीन शासक ने प्रजा में से कुछ विद्वानों को पास बुलाकर पूछा, "साफ-साफ बताओ, क्या बात है? तुम लोग क्या नहीं खींच सकते?" विद्वानों ने उत्तर दिया, "महाराज! हम स्वयं समझने से असमर्थ हैं कि हमें क्या होता जा रहा है. यों लगता है, हमारे पांवों में भारी जंजीरें डाल दी गयी हैं, जिनके असहनीय बोझ ने हमें पांव उठाकर चलने से असमर्थ कर दिया है यह रहस्यपूर्ण जंजीरें दिन-प्रति-दिन भारी होती जा रही हैं. यदि यही दशा रही तो थोड़े ही समय बाद यह पूरा राष्ट्र निश्चल होकर रह जायेगा.

शासक मुस्कराकर बोला, "अच्छा, तो अब समझा, यह लोग क्या नहीं खींच सकते, पर तुम लोग एक दूसरा नारा भी तो लगाते रहते हो, वह क्या चीज है, जो तुम लोगों से उठायी नहीं जाती?"

"महाराज! हमें यों अनुभव होता है, जैसे हमारे सिर पर एक रहस्यपूर्ण प्रकार का बोझ लाद दिया गया हो."

यह सुनकर शासक प्रजा से बोला, "मेरे प्यारे देशवासियो, तुम बिल्कुल चिंता मत करो. हम आज ही अपने योग्यतम विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त कर रहे हैं, जो इस बात की खोज करेगी कि तुम लोगों के पांव की जंजीरें और तुम्हारे सिरों का यह रहस्यपूर्ण बोझ क्या है?"

जनता के चेहरों पर रौनक आ गयी. सब लोग खुशी-खुशी पांव घसीटते अपने-अपने घरों को विदा हो गये. इधर शासक ने उसी दिन चालीस चुने हुए सरकारी विशेषज्ञ इकट्ठे किये और उनसे कहा, "हमारी प्रजा जिस कठिनाई में फंस गयी है, निश्चय ही आपको भी उसका एहसास होगा. उसी प्रकार की असाधारण परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए ही हमने वर्षों से तुम जैसे विशेषज्ञों का पालन-पोषण का बोझ उठा रखा है. अब समय आ गया है कि तुम हमारे उपकारों का पूरा न सही, थोड़ा-सा बदला चुका दो. हम चाहते हैं, तुम लोग यह मालूम करो कि वह कौन-सा रहस्यपूर्ण बोझ है, जिसे उठाने से मेरी प्रजा तंग आ चुकी है. इस बोझ को हल्का करने का कोई समाधान सुझाओ, पर खबरदार! ऐसा कोई समाधान न दिया जाये, जिससे हमें कष्ट पहुंचने की कोई आशंका हो. आखिर तुम्हारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य भी तो महाराज के अधिकारों की रक्षा करना है."

विशेषज्ञों ने उत्तर दिया, "आपका हुक्म सिर आंखों पर सरकार! हमारी बस एक प्रार्थना है, और वह यह कि आप हमें चालीस दिन की मोहलत दें. इन चालीस दिनों में हमें चालीस बोरियां किशमिश और बादाम की खिलायी जायें, हमारे दिमाग उजागर हो जायें. इकतालीसवें दिन हम महाराज की इच्छा के अनुसार प्रजा के बोझ की प्रकृति और उसे कम करने का उचित समाधान प्रस्तुत कर देंगे."

इस विचार से कि विशेषज्ञ अपना मूल्यवान समय गप्पों में नष्ट न करें, शासक ने उन्हें महल के एक बहुत बड़े कमरे में बंद करके बाहर से ताला लगवा दिया. हर रोज किशमिश और बादाम की एक बोरी कमरे में ढकेलकर कमरे को दोबारा ताला लगा दिया जाता.

इधर विशेषज्ञ किशमिश और बादाम खा-खाकर बंद कमरे में हंसी-खुशी अपना समय बिता रहे थे उधर प्रजा की चीख-पुकार दोबारा शासक के कानों तक पहुंचने लगी. वह बेचैन होकर बंद कमरे की एक दीवार के छोटे-से सूराख से अंदर झांकता तो सब विशेषज्ञ किशमिश और बादाम उड़ाने में व्यस्त नजर आते. इस मनोविनोद से निपटते ही वे कलाबाजियां लगाते और तरह-तरह के खेल खेलने लगते.

आखिर इकतालीसवें दिन शासक ने विशेषज्ञों को कमरे से निकाला. सबसे बड़ा विशेषज्ञ शासक से यों संबोधित हुआ, "महाराज, हमने चालीस दिन और चालीस रात के अथक परिश्रम और माथापच्ची के बाद प्रजा के कष्ट की प्रकृति का पता लगा लिया है. हमारी खोज बताती है कि इस देश के हर व्यक्ति को जो रहस्यपूर्ण बोझ तंग कर रहा है, वह वास्तव में उसकी अपनी छाया का बोझ है. लोगों की छाया किसी अवस्था में उनका पीछा नहीं छोड़ती. हर समय उनके पांवों से चिपकी रहती है. यही कारण है कि लोग आसानी से कदम नहीं उठा सकते.

शासक अपने विशेषज्ञों का निदान सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ. उसने उनकी विद्वता और बुद्धिमानी की बेहद प्रशंसा की. फिर आदेश दिया, "विशेषज्ञों का यह मत तत्काल सारी प्रजा तक पहुंचा दिया जाये! और लोगों को परामर्श दिया जाये कि यदि वे इस रहस्यपूर्ण बोझ से छुटकारा पाना चाहते हैं तो अपनी छाया से छुटकारा प्राप्त करने की तरकीब करें."

शाही आदेश तत्काल प्रजा को सुना दिया गया. प्रजा के चेहरों पर एक बार फिर रौनक के चिह्न हो प्रकट गये. उसी दिन से देशभर में मनुष्य और मनुष्य की छाया के बीच एक अंतहीन युद्ध शुरू हो गया. लोग अपनी छाया से छुटकारा पाने के लिए तेज भागते. आखिर थक-हारकर धरती पर गिर पड़ते. उठते, तो छाया निरंतर पांव से चिपकी नजर आती. लाख प्रयत्न करने के बावजूद कोई व्यक्ति अपनी छाया से छुटकारा न पा सका. लोगों ने तांगे-गाड़ियों पर सवार होकर अपनी छाया से दूर, बहुत दूर भाग जाने का प्रयत्न किया, पर जब गंतव्य पर पहुंचते, छाया फिर साथ होती. सुबह सोकर उठते तो छाया पश्चिम की ओर होती. अतः लोग पूर्व की ओर भागना शुरू कर देते. दोपहर तक पूर्व को भागते रहते. दोपहर के बाद छाया उनसे आगे निकल जाती तो वे उसे पीछे छोड़कर पश्चिम की ओर मुख कर लेते.

पागलों की तरह पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व की ओर भागने वाले इस राष्ट्र के कुछ नेता प्रकट हुए. यह हर रोज सुबह-सवेरे जनता को यों संबोधित करते—"प्यारे देशवासियो, हमारी मुक्ति पूर्व में है. आओ, अपनी दिशा पूर्व को करें और सब मिलकर पूर्व को भागें."

दोपहर के बाद कुछ अन्य नेता जनता को घेरकर यों भाषण झाड़ते–"भाइयो, हमारी मुक्ति पश्चिम में है. आओ, अपनी दिशा पश्चिम को मोड़ें और सब मिलकर पश्चिम को भागें."

नेताओं के इस परामर्श पर कार्य करते हुए गरीब जनता चाहे पूर्व को भागती, चाहे पश्चिम की ओर मुख करती, किसी को अपनी छाया से छुटकारा न मिल सका, न छाया का रहस्यपूर्ण बोझ कम हुआ.

पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में अपनी मुक्ति की खोज में प्रयत्नशील रहने के बावजूद काफी समय तक जब लोगों की समस्याओं का समाधान न हुआ, तो प्रजा के नेताओं का एक तीसरा दल मैदान में आया. उन्होंने जनता को एक नया परामर्श दिया, "साथियो, जो लोग तुम्हें पूर्व या पश्चिम की राह दिखाते हैं, गद्दार हैं. हमारी मानो, तो न पूर्व को भागो, न पश्चिम को. तुम्हारी मुक्ति पूर्व और पश्चिम के ऐन मध्य में है. लोग अब इस परामर्श पर आचरण करने लगे. दोपहर के लगभग जब उनकी छायाएं छोटी होते-होते समाप्त होने को आतीं, तो वे उल्लास से चिल्ला उठते, "वाह! अब इन मनहूस छायाओं से छुटकारा मिला!" पर बेचारों की खुशियां चिरस्थायी साबित न होतीं. दोपहर बीतते ही छाया फिर लंबी होनी शुरू हो जाती. अब लोग विवश पश्चिम की दिशा में जाते और फिर पहले की तरह सरपट पश्चिम की ओर भागने लगते. किसी को अपनी छाया से छुटकारा न मिला. तीनों राजनीतिक दलों के पक्षधरों की आपस में हाथापाई, मार-कुटाई तक नौबत आ गयी.

सुनी-सुनायी

▣ दुर्गाशंकर त्रिवेदी

सबसे बड़ी शोक कथा!

हरिशंकर परसाई अपने जीवन की एक करुण कथा सुनाते समय आंसुओं से भीग उठते थे. लंबी सिसकियां ले-लेकर उसे सुनाते थे. वह कथा इस प्रकार से है—"मेरी माताजी के हम दो जुड़वां बच्चे पैदा हुए थे. मैं भी उनमें से एक था हजरात. हम दोनों की शक्ल आपस में मिलती-जुलती थी कि कभी-कभी तो हमारी अम्मीजान भी धोखा खा जातीं. जब हम छोटे थे तब एक दिन दोनों ही अपने बगीचे के हौज के पास खेल रहे थे. इतने में हममें से एक पैर फिसलने से हौज में गिर गया. आसपास कोई भी नहीं था उस वक्त जो उसे बचा लेता, इसलिए वह मर गया."

कुछ देर रुककर सिसकियां भर वे बोले—"हां, तो थोड़ी देर में हमारी मम्मी वहां आ गयीं. किंतु उसकी समझ में यह नहीं आ सका कि असल में हम दोनों में से मौत किसकी हुई है. दोस्तो, आज भी लोगों को यह रहस्य मालूम नहीं हो सका है. कितने लोगों का खयाल है कि मैं जीवित हूं और मेरा भाई मर चुका है. लेकिन असल में उनका यह सोचना गलत है. असल में उस वक्त हौज में गिरकर मैं ही मरा था और जो जीवित है, वह मैं नहीं, बल्कि मेरा अपना भाई है. यही मेरे इस छोटे से जीवन की सबसे बड़ी शोक कथा है कि मैं झूठमूठ ही अपने आप को जीवित कहकर लोगों को धोखा दे रहा हूं. हरिशंकर परसाई जैसा हास्य-व्यंग्य लेखक बनकर न जाने किन-किन पर रंदा चला रहा हूं!"... और वे फिर सिसकियां लेकर रो उठते हैं. लोग कहकहे लगा उठते हैं, ठहाके गुंजा देते हैं.

वफादार नौकरानी

प्रख्यात चित्रकार जतीनदास अपनी एक मित्र कला समीक्षक को बता रहे थे—"उस चित्रकार ने अपने कमरे की छत पर मकड़ी के जाले का ऐसा यथार्थवादी चित्र बनाया कि उसकी नौकरानी झाड़ू-बांस को बांधकर उस जाले को हटाने के लिए तीन दिन तक कोशिशें करती रही."

सुनकर मित्र समीक्षिका मुस्कराकर बोलीं—"वैसे कलाकार तो दूसरे भी मिल जायेंगे जनाब, मगर आजकल वैसी वफादार नौकरानी दुर्लभ है!"

अचूक नुस्खा

कन्हैयालाल नंदन सारिका के कुछ विशेष अंक प्रस्तुत कर पाठकों के काफी पत्र-बमों के शिकार हुए. कुछ दिन व्यथित रहने के उपरांत उन्होंने ऐसे विषबाणों से निपटने की अनूठी तरकीब खोज ली.

अब वे ऐसे पत्रों को अपनी एक संक्षिप्त टिप्पणी लगाकर पत्र प्रेषक को बैरंग लौटा देते हैं. शायद टिप्पणी इस प्रकार है!

प्रिय मित्र!

साथ में जो पत्र प्रेषित कर रहा हूं, वह मुझे कुछ समय पूर्व आपके शुभ नाम से मिला. मैं इसे इसलिए आपके पास भेज रहा हूं, क्योंकि मेरा मानना है कि भारत के एक कर्त्तव्यनिष्ठ नागरिक की हैसियत से आपको यह पता लग जाना आवश्यक ही है कि कोई गैर-जिम्मेदार, निपट अबूझ नागरिक आपके हस्ताक्षरों से मिलते-जुलते हस्ताक्षर करके पत्र मुझे भेज रहा है. ताकि मेरे व आपके संबंध ठीक नहीं रह पायें. अन्यथा न लें.

आपका

कन्हैयालाल नंदन

जनता ने रोज-रोज की बक-बक झक-झक से बेजार होकर नये सिरे से चीख-पुकार शुरू कर दी, "उफ्! अब हम नहीं खींच सकते!...हाय! अब हम नहीं उठा सकते!"

शासक के महल से टकराकर यह हाऊ-हू उसके कानों तक पहुंची, तो वह इन आवाजों से बेहद विचलित हुआ. उसने चिल्लाकर पूछा, "अब फिर यह कैसा कोलाहल है, जो हमारी नींद में खलल का कारण बन रहा है?"

दरबारियों ने उत्तर दिया, "महाराज! यह आपकी प्रजा की पुकार है, जिसे न पूर्व को भागने से अपनी छाया से छुटकारा मिला है, न पश्चिम की दिशा को जाने से और न अपनी-अपनी जगह निश्चल खड़े रहने से."

शासक ने अपने चालीस विशेषज्ञों को फिर इकट्ठा किया. बहुत उद्विग्न होकर बोला, "क्या हमने तुम्हें वर्षों से इसी लिए पाला-पोसा कि तुम कठिनाई में मेरे काम न आओ! आज हम तुम्हें अपने ज्ञान की शक्ति का प्रदर्शन करने का अंतिम अवसर देते हैं. सब सिर जोड़कर कोई ऐसा इलाज ढूंढ़ो कि हमारी प्यारी प्रजा को उनकी छायाओं से सदा-सदा के लिए छुटकारा मिल जाये."

▣

विशेषज्ञों ने उत्तर दिया, "महाराज का हुक्म सिर आंखों पर. पर हमारी एक शर्त है, और वह यह कि हमें चालीस दिन की मोहलत दी जाये. इन चालीस दिनों में हमें चालीस बोरियां किशमिश और बादाम खिलाये जायें, ताकि हमारे मस्तिष्क उज्ज्वल से उज्ज्वलतर हो जायें और हम इकतालीसवें दिन लोगों को उनकी परछाइयों से छुटकारा प्राप्त करने की ऐसी विधि प्रस्तावित करें, जो महाराज की इच्छा के अनुकूल हो."

शासक ने विशेषज्ञों की शर्त स्वीकार कर ली. कभी-कभी शासक के मन में विशेषज्ञों की कार्यवाही का निरीक्षण करने का शौक उठता तो वह चुपके से ताले के सूराख में से कमरे में झांकता. विशेषज्ञ सदा किशमिश-बादाम खाते हुए दिखाई देते, या फिर खेल-कूद में मगन नजर आते. चालीस दिन बाद जब उन्हें बाहर निकाला गया तो सबसे बड़े विशेषज्ञ ने करबद्ध होकर कहा, "महाराज! चालीस दिन किशमिश-बादाम खाकर हमारे दिमाग इतने रोशन हो गये कि हमने महाराज की आज्ञा के अनुसार अपने ज्ञान की शक्ति से एक ऐसी विधि ढूंढ़ निकाली, जिससे प्रजा अपनी परछाइयों से छुटकारा पा सकती है."

"विधि बयान की जाये!" शासक ने आदेश दिया.

बड़े विशेषज्ञ ने उत्तर दिया, "महाराज! आपको मालूम ही है कि रात पड़ते ही परछाइयां लोप हो जाती हैं, इसलिए हमारी तुच्छ राय में लोगों को उनकी परछाइयों से छुटकारा दिलाने के लिए रात के अंधेरे का प्रबंध करना अनिवार्य है."

शासक यह प्रस्ताव सुनकर भन्ना उठा. बोला, "लेकिन कंबख्तों, दिन के प्रकाश में रात का अंधेरा कैसे पैदा करोगे!"

"महाराज! हम दिन के प्रकाश को रात के अंधेरे में रंग देंगे. इस उद्देश्य के लिए आप केवल एक काम कीजिए. एक ऐसी काल-कोठरी का निर्माण करवा दीजिए, जिसमें सूर्य की एक किरण भी प्रवेश न पा सके. प्रजा में से जो व्यक्ति मुंह से फरियाद निकालकर महाराज की शांति में हस्तक्षेप करे, उसे उठाकर उस काल-कोठरी में डाल दिया जायेगा. कोठरी में प्रवेश करते ही उसे अपनी परछाई से छुटकारा मिल जायेगा और वह उसके बोझ से मुक्त होकर चीखना-चिल्लाना बंद कर देगा."

▣

शासक ने विशेषज्ञों के परामर्श पर कार्य करते हुए एक काल-कोठरी बनवायी. जिसमें सुई के सूराख के बराबर भी सूराख न छोड़ा. जो व्यक्ति चीख-पुकार करता हुआ सुनाई देता, उसे पकड़कर काल-कोठरी में डाल दिया जाता. परछाई से छुटकारा मिलते ही इन लोगों की चीख-पुकार तो एक ओर, आवाज तक निकलना बंद हो जाती. इस प्रकार कोठरी के अंदरवालों की तो अपनी परछाइयों से छुटकारा मिल गया, पर जो लोग बाहर थे, वे सुबह होते ही पूर्ववत् कराहना शुरू कर देते.

आखिर कितने लोगों को काल-कोठरी में ठूंसा जा सकता था! थोड़े ही समय में कोठरी खचाखच भर गयी. शासक के आदेश पर उसे बड़ा कर दिया गया. अधिक समय न बीता था कि कोठरी में फिर तिल धरने की जगह न बची. शासक ने दोबारा उसको बड़ा करवा दिया. यह क्रम यों ही चलता रहा, यहां तक सारा देश एक विशाल काल-कोठरी में बदल गया.

सूर्य का प्रकाश अब केवल कुछ गिनी-चुनी जगहों तक पहुंचता था, जहां स्वयं शासक, राजमहल के कर्मचारी, दरबारी और विशिष्ट विशेषज्ञों के अतिरिक्त काल-कोठरी में ठूंसे जाने वाले लाखों मनुष्यों की परछाइयां रह रही थीं. यह परछाइयां रातों को कहीं नजर नहीं आतीं, पर सुबह होते ही धरती पर रेंगने लगतीं. वर्षों मनुष्य की परछाइयों की भूमिका अदा करते-करते मनुष्य के साथ जीवन व्यतीत करते-करते अब यह परछाइयां भी मनुष्यों की तरह दिखाई देने लगी थीं. पर इनमें मनुष्यों की तरह अपने पांव पर खड़ा होने की योग्यता पैदा न हो सकी थी. इनके अलावा जनता के कुछ गिने-चुने लोग भी अभी तक काल-कोठरी से बाहर थे, पर उन्होंने कोठरी के डर के मारे अपनी जुबान पर ताले लगा रखे थे. किसी को यह कहने की हिम्मत न होती कि अब हम नहीं खींच सकते' या 'अब हम नहीं उठा सकते'. कई अवसरों पर तो बेचारे पूछताछ के बिना ही अपने-आप प्रायः यह कहते सुने गये, "अब हम आदी हो गये हैं. अब तो हम खींच भी सकते हैं, उठा भी सकते हैं."

उसके बाद उस देश में कभी जनता की चीख-पुकार, रुदन-क्रंदन शासक के कानों तक न पहुंचा और न कभी उस की नींद में खलल आया! □

● प्रस्तुति : सुरजीत

पंजाबी व्यंग्य लोक-कथाएं

जाना एक लेखक का देवताओं की सभा में!

एक दिन ईश्वर बहुत उदास थे, उन्होंने विष्णु को बुलाया और कहा, "मैंने ब्रह्मा को सृष्टि रचना का आदेश दिया था, उसने मान लिया और सृष्टि की रचना कर दी. परंतु सृष्टि के पालन का आदेश मैंने तुम्हें दिया था विष्णु! जरा देखो! बीसवीं सदी के लोगों का क्या हाल हो गया है!"

विष्णु हाथ जोड़कर कहने लगे, "मेरे ईश्वर! सृष्टि के लोगों को जब-जब मेरी जरूरत पड़ी, उन्होंने मुझे याद किया, मैंने तब-तब उनका कल्याण किया. मैंने लोगों की जरूरतों की खातिर एक नहीं, दस-दस अवतार लिये, पर अब धरती के लोग मुझे कभी याद नहीं करते. बताइए, मैं क्या करूं?"

ईश्वर ने कहा, "अच्छा, सब देवी-देवताओं को बुलाओ. उनसे भी पूछा जाये कि क्या हमारे ही रचे हुए लोग हमें सचमुच भूल चुके हैं!"

अगले ही दिन सब देवी-देवता ईश्वर के दरबार में एकत्र हुए.

सबसे पहले वरुण देवता उठे और कहने लगे, "ईश्वर! आपकी चिंता सही है. मैं अकेला ही धरती और अंबर की निगहबानी करता हूं, धरती को पानी की जरूरत थी, मैंने अंबर से पानी लेकर धरती को नदियों के रूप में दिया. पानी लोगों की रक्षा करे, उन्हें तबाही से बचाये, इसलिए वे मेरी पूजा करते थे. मगर अब चाहे घर और खेत भी बह जायें, तब भी वे मुझे याद नहीं करते."

इसके बाद इंद्र देवता उठे और कहने लगे, "सच है ईश्वर! मैं धरती को वर्षा देकर लोगों को अकाल मौत मरने से बचा लेता था. मगर अब धरती का कोई टुकड़ा सूखा पड़ने पर बेशक दरक-दरक क्यों न जाये, लोग अन्न के दाने-दाने के लिए तड़पते मर जायें, वे मुझे याद नहीं करते."

फिर वायु देव ने अपनी मुश्किल बयान करते हुए कहा, "मेरा श्वास लोगों को जीवन दान देता है, पर अब वे अपने किसी भी श्वास के साथ मुझे याद नहीं करते."

इसी प्रकार अग्नि देव ने कहा, "मैं आकाश में सूरज का रूप धारण करता हूं, बादलों में बिजली का और पृथ्वी पर अग्नि का, पर जिन लोगों के जीवन के लिए मैं इतना कुछ करता हूं, वे मुझे भूल चुके हैं..."

यह सब सुनकर ईश्वर और भी उदास हो गया. तब सभी ने विचार-विमर्श करके एक सलाह दी—क्यों न पृथ्वी से कुछ लोगों को बुलाकर पूछा, जाये कि वे अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए हमें याद क्यों नहीं करते!"

▣ अमृता प्रीतम

"बताइए, किसे बुलाया जाये?" ईश्वर ने पूछा तो सभी देवी-देवता गहरी सोच में डूब गये. कहने लगे, "अगर वर्तमान राजनीतिज्ञों को बुलाया तो वे सही-सही नहीं बतलायेंगे, क्योंकि वे सच बोलना भूल गये हैं!...और अगर लोगों में से किसी को बुलाया तो वह किसी भी दलील के साथ बात नहीं कर पायेगा, क्योंकि हाड़ तोड़ मजूरी करते-करते अब लोग कुछ भी सोच पाने से जाते रहे हैं!"

बहुत देर बहस होती रही पर कोई हल न निकला. हारकर देवताओं ने सरस्वती को कहा, "देवी! तेरी पूजा-करनेवाले जरूर सच्चे और सयाने होंगे. क्यों न धरती के किसी लेखक को बुलाकर दुनिया का भेद जाना जाये?"

सरस्वती ने हामी भरी, पर कहने लगीं, "अब तो किसी को मेरा नाम भी याद नहीं होगा. अब वे मेरी पूजा अराधना नहीं करते!"

सरस्वती के तर्क से सब सहमत थे, फिर भी धरती से किसी को बुलाना अब बहुत जरूरी हो गया था.

सो, धरती से एक लेखक को बुलाया गया. वह आया तो सरस्वती ने उसे कहा, "सुना है, आदम का वंश आजकल बड़े-बड़े व्यापार कर रहा है, तूने सारे व्यापार छोड़कर लेखक बनने का फैसला क्यों किया?"

लेखक ने बताया, "मेरे बाप के पास थोड़ी-सी जमीन थी, पर खेती-बाड़ी का काम हड्डियां तोड़ देता है, जो मुझसे नहीं हो सकता. उधर बड़ी-बड़ी नौकरियां बड़े रसूख और सिफारिश या रिश्वत से मिलती हैं, मेरे पास कोई भी रसूख नहीं था. इसलिए मैं दुखी होकर कहानियां लिखने लगा..."

"वाह!" देवी ने सवाल किया, "तब तुझे मानसिक शांति मिली?"

"वह तो लोगों से प्रशंसा मिलने पर ही मिलती है और प्रशंसा तब मिलती है...जब कोई रचना प्रकाशित हो."

"तेरी रचना प्रकाशित नहीं होती?"

"मुझे समझ नहीं आता कि आखिर संपादक किन लेखकों की रचना छापते हैं. न कोई संपादक मेरी कोई रचना छापता है और न ही कोई प्रकाशक मेरी कोई किताब. मैं तो रोटी से भी मोहताज हूं. इस कमबख्त काम से मैं दो जून का खाना भी नही जुटा पाता."

"इसका कारण यह भी हो सकता

ग़ज़ल

▣ रामकिशन 'असहाय'

आज अपना ये हाल है प्यारे,
सांस लेना मुहाल है प्यारे.

अपने हाथों से हम परेशां हैं,
वर्ना किसकी मजाल है प्यारे.

सारी खुशियां खरीद लेते हैं,
जिनकी जेबों में माल है प्यारे.

कल हमारा भविष्य क्या होगा,
हर नजर में सवाल है प्यारे.

फिक्र तू कर न इन मुखौटों की,
उम्र बस पांच साल है प्यारे.

वह अंधेरों से डर नहीं सकता,
पास जिसके मशाल है प्यारे.

है कि तूने अभी अपनी देवी की आराधना न की हो?"

लेखक गुस्सा खा गया और कहने लगा, "मैं उसकी आराधना क्यों करूं? उसने मुझे क्या दिया है कि मैं उसकी पूजा करूं? मैंने कई लड़कियों को प्यार किया है, पर किसी ने मेरी कोई परवाह नहीं की. . ."

सरस्वती ने सहज स्वर में कहा, "तेरी आराधना की देवी तेरी कलम को शक्ति दे सकती है."

"अच्छा! किस तरह की शक्ति?"

"ऐसी शक्ति कि तेरी कलम से निकले अक्षरों की लोग प्रशंसा करने लगें. सब संपादक तुझे खत लिख-लिखकर तुझसे नयी कहानी मांगें और प्रकाशक तेरे आगे-पीछे घूमते रहें."

"अच्छा! इतनी शक्ति?"

"हां," देवी उत्सुकता से बोलीं, "अगर कोई देवी तुझे इतनी शक्ति दे दे तो तू उसकी पूजा करेगा?"

लेखक जोर से हंस दिया और कहने लगा, "अगर मेरे हाथ इतनी शक्ति लग जाये तब तो लोग मेरी पूजा करेंगे... मैं क्यों किसी की पूजा करूंगा भला?"

उतरना धरती पर मेनका का!

एक दिन अप्सरा मेनका नीले पुष्प-कमलों के सरोवर में नहा रही थी कि उधर से राजा इंद्र गुजरे. मेनका ने अपने चेहरे को एक बड़े-से कमल पुष्प की ओट में कर लिया और शरीर को उस कमल-पुष्प की डंडी की ओट में. पर राजा इंद्र ने फूल की पंखुड़ियों में पंखुड़ियों की भांति छिपी हुई मेनका की आंखों को पहचान लिया और कहने लगे, "अप्सरा! तूने किसी युग में धरती पर जाकर महामुनि विश्वामित्र की तपस्या भंग की थी, तेरे लिए आज फिर आदेश हुआ है कि धरती पर जा...और आज के विश्वामित्र की तपस्या भंग कर दे!"

"महाराज! आज के विश्वामित्र को मैं कैसे पहचानूंगी?" कमल-पुष्प की सुगंध जैसा मेनका का स्वर आया, तो राजा इंद्र ने कहा, "कवि और लेखक भी मुनिजन होते हैं, तू उनमें से महामुनि को जरूर पहचान लेगी."

"जो आज्ञा!" मेनका ने कहा और अपने सबसे चमकीले वस्त्र पहनकर पृथ्वी पर चली गयी.

कुछ अरसा गुजर गया. मेनका वापस न आयी. राजा इंद्र को उसकी चिंता सताने लगी. एक दिन वह इसी चिंता में उसी कमल-पुष्पवाले सरोवर के किनारे खड़े हुए थे कि सहसा एक स्त्री ने उनके पास आकर उन्हें प्रणाम किया. उन्होंने उस स्त्री के फटे हुए कपड़ों को देखकर हैरान होते हुए पूछा, "किस विपदा में हो देवी?"

"आपका आदेश पूरा करके आयी हूं महाराज!" वह स्त्री बोली तो राजा इंद्र ने उसकी आवाज पहचान ली. वह मेनका थी.

"महाराज!" मेनका बोली, "आपके विश्वामित्रों ने देखिए, मेरा क्या हाल कर दिया!"

"महामुनि विश्वामित्र ने?" राजा इंद्र और भी चकित हो गये.

"एक महामुनि ने नहीं महाराज! सैकड़ों महामुनियों ने. . .किसी ने मेरे सिर के पल्लू को झपटकर मुझे अपने

पास रख लेना चाहा, किसी ने मेरी आस्तीन खींचकर. कइयों ने मेरे सुनहरी चोगे की कन्नियां पकड़-पकड़ कर खींच लीं और किसी ने. . ."

"पर समाधि में लीन मुनियों की दृष्टि तेरे वस्त्रों पर कैसे पड़ी?" राजा इंद्र को लगा कि मेनका का कमल-पुष्प-सा चेहरा सचमुच पंखुड़ी-पंखुड़ी होकर छितराया पड़ा है. उन्होंने पूछा, "मेनका, क्या तू समय के विश्वामित्र के पास नहीं गयी?"

"मैं जिसके पास भी गयी उसने कहा कि वही समय का विश्वामित्र है."

"क्या सभी मुनिजन कई-कई वर्षों की तपस्या का दम भरते थे?"

"हां महाराज! जो वृद्ध थे वे कहते थे कि उनकी सारी उम्र तपस्या में गुजर चुकी है. उनकी झुर्रियां वर्षों की तपस्या का दम भरती हैं. . .और जो जवान थे, वे कहते कि असली विश्वामित्र वे हैं, क्योंकि उन्होंने देश-देशांतरों की पुस्तकों का रटन किया है!. . .और महाराज! सैकड़ों विश्वामित्रों की भीड़ मेरे पीछे लग गयी. . .!"

"फिर तूने कहां और किस मुनि के पास इतने दिन गुजारे?"

"किसी के पास नहीं महाराज! मैं तो सबसे बचने के लिए सिर्फ छुपती फिरती रही. . ."

"कहां?"

"सबसे पहले मैं नगर के राजा के महल में घुस गयी, पर देखा कि सभी विश्वामित्र मुझे ढूंढते हुए वहां भी पहुंच गये और महल के दरबानों की पूजा करने लगे कि वे किसी भी तरह उन्हें महल में दाखिल कर दें . . .!"

"आश्चर्य मेनका! आश्चर्य! क्या सचमुच मुनिजन महल के दरबानों की पूजा करने लगे?"

"हां महाराज! उन्होंने राजा की स्तुति में कई विरद गान लिखे और दरबानों को 'स्त्री-पुष्प' चढ़ाये."

"फिर?"

"फिर मैं महल से निकलकर एक रात उस जगह चली गयी जहां साहित्य-पालकों का सुंदर बन है. सुना था कि वहां धुरंदर विद्वान रहते हैं, जो कविजनों और लेखकजनों की परख करते हैं और उन्हें मुनि-जामा पहनाते हैं. मैंने सोचा कि वहां जाकर ही मैं असली महामुनि की शिनाख्त कर सकूंगी. . ."

"फिर?"

"पर मैंने पाया कि मुनिगण वहां भी पहुंच गये और साहित्य-पालकों के घुटनों की पूजा करने लगे ताकि उनसे मुनि-जामा प्राप्त करके, वे मुझे उस बन में खोज सकें!"

"फिर?"

"देखा कि साहित्य-पालक प्रत्येक मुनिगण को विश्वामित्र का जामा पहना रहे थे. . .इसलिए एक रात मैं उस बन में से भी चली गयी."

"कहां गयी?"

"एक स्थान पर धातु के कला-यंत्र स्थापित थे. पता लगा कि यहां महामुनियों के विचार कागजों पर छापकर लोगों में बांटे जाते हैं ताकि वे दर्शन-शास्त्र के जानकार हो सकें. . .पर देखा कि सभी मुनिगण अपना-अपना छाया-चित्र लेकर वहां आ पहुंचे और छापकर लोगों में बांटने लगे. . ."

"वह किसलिए?"

"इसलिए कि हर कोई मुझे यह दिखा सके कि असली विश्वामित्र वही है और मैं उसकी सूरत देखकर उसे पहचान लूं. पर महाराज! हर एक ने अपने चित्र के नीचे लिखा हुआ था कि असली विश्वामित्र मैं हूं! और साथ ही दूसरे मुनियों का निंदा-गान लिखा हुआ था."

"मेनका! तू तो अपना कौतुक दिखाने गयी थी, लेकिन मुनियों का ही कौतुक देखती रह गयी. . ."

"हां महाराज! ऐसा कौतुक मैंने अन्य किसी युग में नहीं देखा. . ."

"अच्छा, उसके बाद क्या हुआ?"

"एक रात जब मैं हारकर वापस आने लगी थी कि उन सब विश्वामित्रों ने मुझे देख लिया. सब मेरा पीछा करते हुए मेरे वस्त्र खींच-खींचकर मुझे अपनी तरफ घसीटने लगे. . .मैं उनसे बच-बचाकर बमुश्किल यहां पहुंची हूं."

राजा इंद्र बहुत देर तक सोचते रहे और फिर सहसा पूछने लगे, "सखी मेनका! तू इस बार पृथ्वी पर किस रूप में गयी थी?"

मेनका एक सफेद कमल-पुष्प की तरह हंस दी और कहने लगी, "कलयुग में जाने के लिए मुझे रूप बदलना था, सो मैंने बदला. इस बार महाराज! मैं शोहरत के रूप में धरती पर गयी थी. . . जगत-ख्याति के रूप में. . .!"

ग़ज़ल

▣ प्रदीप चौबे

इस शहर की सभ्यता हद है,
हर चने का झाड़ बरगद है.

कुर्सियां चुंबक नहीं लोगो,
बैठने वाला ही अंगद है.

इस कदर है शोर सड़कों पर,
जैसे चौराहों पे संसद है.

फाइलों को देखकर सेहत,
देश का इतिहास गदगद है.

उसकी जेबों में सिफारिश थी,
इसकी आंखों में खुशामद है.

आओ, मरघट में जियें कुछ दिन,
ये जगह बिल्कुल निरापद है.

वार्तालाप कवि और ब्रह्मा का

एक दिन पृथ्वी की खबर-सूरत रखनेवाले देवदूतों ने जाकर ब्रह्मा को बताया, "गुरुदेव! पृथ्वी पर एक नयी हलचल मच रही है."

"गरीबों की हाय-तौबा होगी हुकूमत के खिलाफ?" ब्रह्मा मुस्कराये.

"नहीं गुरुदेव! वह तो सदा होती आयी है, वह कोई नयी बात नहीं. तख्तवालों को पलट दो तब भी तख्त वही रहते हैं."

"साम्राज्य की जगह समाजवाद को तख्त पर बिठा दो, तब भी?"

"हां गुरुदेव! तब भी. . .पृथ्वी के लोग ये सब चालें चल चुके हैं." देवदूतों ने बताया.

"फिर नयी हलचल धार्मिक क्षेत्रों में है या युद्ध-क्षेत्र में?" ब्रह्मा ने पूछा.

"गुरुदेव! ये भी पुरानी बातें हो गयी हैं. लहू की नदियां तो पृथ्वी पर बहती ही रहती हैं, यह भी कोई नयी बात नहीं. अब तो सुंदर स्त्रियों के क्षेत्र में हलचल मच गयी है. . .!" देवदूतों ने बताया तो ब्रह्मा चौकन्ने होकर पूछने लगे, "सुंदर स्त्रियों के क्षेत्र में? उनमें हलचल किसने मचा दी?"

"पृथ्वी के कवियों ने." देवदूतों ने बताया, तो ब्रह्मा को जोर की हंसी आ गयी. पूछने लगे, "वह कैसे?"

"गुरुदेव! कवि जिस किसी शहर-गांव में रहता है, वहां की हर सुंदरी पर कविता लिख देता है. अगर वह विवाहित हो तो उसके घर में लड़ाई छिड़ जाती है और कुंवारी हो तो दूर-दूर तक बदनाम हो जाती है. इसलिए सुंदर स्त्रियां बहुत लाचार हो गयी हैं. . . बहुत चिंतातुर हैं महाराज! हाहाकार कर रही हैं. . ."

ब्रह्मा ने कुछ देर मामले की गंभीरता पर गौर किया और बोले, "अच्छा, पृथ्वी से किसी बहुत ही रोमानी कवि

लाप करूंगा."

"जो आज्ञा!" देवदूतों ने कहा और पृथ्वी से एक कवि को बुला लाये.

ब्रह्मा ने कवि का हार्दिक स्वागत किया और उसे एक सुंदर आसन पर बिठाकर पूछा, "कवि! क्या तुम मेरे राज्य का दर्शन करना चाहोगे?"

कवि मुस्करा दिया, "नहीं देवता! राज्य-वाज्य से अपना क्या वास्ता! हां, अगर कोई अप्सरा-विहार हो तो अप्सरा-दर्शन जरूर करना चाहूंगा. . . कोई उर्वशी, कोई मेनका. . .!"

ब्रह्मा ने चौंककर कवि की तरफ देखते हुए पूछा, "क्या पृथ्वी पर सुंदरियां नहीं देखीं?"

"देखीं, पर आंखें तृप्त नहीं हुईं."

ब्रह्मा ने कुछ परेशान होकर पूछा, "कवि की कल्पना को क्या किसी सुंदरी ने साकार नहीं किया ?"

"अनेक सुंदरियों ने किया है!" कवि हंस दिया, "अनेक करेंगी!"

"यह कल्पना की माया है कवि!"

"हां देवता! इस माया को या आप जानते हैं या मैं, और कोई नहीं."

ब्रह्मा फिर चौंक गये, "मनुष्य देवता की रीस करेगा?"

"मैं ब्रह्मरूप हूं गुरुदेव! आपका अपना रूप!"

"यह वाणी समर्था है, कला-कौशल, एक चतुराई, मगर सच नहीं."

"यह सच है गुरुदेव!"

"यह रहस्य तुमने किससे पाया?"

"आपसे गुरुदेव!"

"वह कब?"

"जब आपने अपने शरीर को चीर कर नारी का निर्माण किया था."

"वह तो सृष्टि-रचना के लिए था."

"पर आप तो नारी के मोह में फसकर उसका रूप देखते रह गये. . .!"

▣ विजय किशोर मानव

लिख-लिख हम हारे हैं पाती!
जो भी गया हुआ दरबारी, वर्षों खबर न आती!
कौए निर्णायक, पिंजरों में बंदी कोयल गाती!
हुए दधीचि पीढ़ियां बीतीं, भूल गये मंझवाती!
श्याम झपट लें तंदुल, लौट सुदामा पीटें छाती!
पापी पेट तार पर डोले, ताली भीड़ बजाती!
'शो केसों' में सजे मुखौटे, दीन-धरम खैराती!
कई भगीरथ भेजे, लाये नदियां सब बरसाती!
झंडे फबते उन पर, डंडे हैं हम सबकी थाती!

ब्रह्मा कुछ मौन-से हो गये तो कवि कहने लगा, "उससे पहले आपका एक शीश होता था गुरुदेव! आप समक्ष खड़ी नारी को अपलक देखते रहे तो वह घबराकर आपके दाहिनी तरफ जा छिपी, सो दाहिनी तरफ से देखने के लिए आपको दूसरा शीश मिला. नारी फिर आपकी आंखों से खिसक गयी और आपके बायीं तरफ जा छिपी, सो बायीं तरफ देखने के लिए आपको तीसरा शीश मिला. . ."

ब्रह्मा इस वक्त किसी नारी को नहीं अपितु कवि को अपलक निहार रहे थे. कवि कहता चला गया, "आप सब जानते हैं कि फिर कैसे वह नारी आपकी दृष्टि से लजाकर आपकी पीठ के पीछे जा खड़ी हुई थी. . .और पीछे देखने के लिए आपको चौथा शीश प्राप्त हुआ. मगर वह चार दिशाओं में भी कोई ओट न ले सकी तो उसने पृथ्वी से उड़कर आकाश की तरफ जाना चाहा!. . .उस समय आपको आकाश की तरफ देखनेवाला पांचवां शीश प्राप्त हुआ. . .!"

ब्रह्मा कवि के तर्क के सामने निरुत्तर हो गये और कहने लगे, "कवि! अगर तुम इतना कुछ जानते हो तो यह भी जानते होगे कि मेरी मोहदृष्टि से घबराकर शिवजी ने मेरा पांचवां शीश मेरे धड़ से उतार दिया था!"

"यह भी जानता हूं."

अब ब्रह्मा को नया तर्क मिल गया, "मेरे पांच शीश थे, एक शीश मेरे धड़ से उतर जाने के बावजूद मेरे पास चार शीश बचे रह गये. पर तुम यह भूल गये कि तुम्हारे पास सिर्फ एक शीश है. अगर शिवजी क्रुद्ध होकर तुम्हारा शीश उतार दें तो तुम्हारे पास बाकी क्या बचेगा? सुना है, पृथ्वी की सुंदर स्त्रियां तुम्हारी नजर से घबराकर शिवजी से फरियाद करनेवाली हैं!"

कवि उसी तरह मुस्कराता हुआ कहने लगा, "आपने अपना शीश नहीं बचाया, यह आपकी भूल थी."

ब्रह्मा ने कुछ खीझकर कहा, "क्या तुम अपने-आपको बहुत चतुर समझते हो? क्या तुम शिवजी की नजर से अपना शीश बचा सकते हो?"

"हां गुरुदेव! मैं अपने शीश को बचा सकता हूं."

"वह कैसे?"

कवि फिर मुस्करा दिया, "आपने केवल माया-जाल को जाना और मोह-जाल को. पर एक और जाल भी होता है, आपने उसे नहीं जाना. ."

"वह कौन-सा जाल है?"

"वह करुणा का महिमा-जाल होता है गुरुदेव!" कवि ने बताया, "आप अभी किसी उर्वशी, मेनका या रंभा जैसी अप्सरा को मेरे सामने ले आइए, मैं उसके रूप की महिमा में और उसके वियोग की पीड़ा में ऐसी कविता रचूंगा कि करुणा का महिमा-जाल मेरे शीश को ढांप लेगा. . .और शिवजी की क्रोधी नजर को मेरा शीश नहीं दिखाई देगा. . . मैं अपना शीश बचा सकता हूं गुरुदेव!"

और ब्रह्मा के चारों शीश हैरान होकर देवदूतों की तरफ देखने लगे. □

● के-25, हौजखास, नयी दिल्ली-16

▣ रूपांतर : रमेश बत्तरा

पतंगबाजी, संस्थाबाजी और अग्निहोत्री जी

• बरसानेलाल चतुर्वेदी

आज का युग संस्थाबाजी का है. पतंगबाजी और संस्थाबाजी में साम्य है. अग्निहोत्रीजी माने हुए संस्थाबाज हैं. बचपन में उन्हें पतंगबाजी का शौक था. परचूनी की एक छोटी-सी दूकान चलाते थे. सैकड़ों पतंगे उड़ा डरली. अग्निहोत्रीजी खेल भाव में ही संस्थाएं बनाते हैं. वे चार विद्यालयों की प्रबंध समितियों के विभिन्न पदों पर आसी हैं. एक विद्यालय की तरफ से टेलीफोन लगा हुआ है. दूसरे विद्यालय का चपरासी उनका गेहूं पिसाकर लाता है. तीसरे विद्यालय की छपाई का सारा कार्य उनके प्रेस में होता है. चौथे विद्यालय के निर्माण के समय ही उसके साथ उनकी कुटिया बन गयी थी, जिसका नाम उन्होंने 'सुदामा कुटीर' रखा, जो मकराने के पत्थर का बना हुआ है.

सहकारिता विभाग की जब हवा चली तो वे उसमें घुसकर आनंद लेने लगे. क्रय-विक्रय सहकारी समिति के उपाध्यक्ष हैं, गृह निर्माण सहकारी समिति के अध्यक्ष हैं. राशन की दूकान दिलानेवाली सलाहकार समिति के उपाध्यक्ष हैं. गृह निर्माण समिति के आठ प्लॉट विभिन्न नामों से हजम कर चुके हैं. कुछ बेच चुके हैं, कुछ पर मकान बनाकर बेचने के उपक्रम में हैं.

अपने क्षेत्र की साहित्य परिषद के आजीवन मंत्री हैं. उन्होंने ही संस्था को जन्म दिया है. साहित्य, कला एवं संस्कृति का जीर्णोद्धार करना ही परिषद का उद्देश्य है. जिसे चाहें सभापति बना देते हैं, जिसे चाहे उपसभापति, किंतु मंत्री स्वयं बने रहते हैं. परिषद का सारा प्रकाशन उनके प्रेस में ही होता है. परिषद के लिए सरकार से जमीन मिली, उसमें स्वयं की कोठी बनी हुई है, जो अच्छे किराये पर उठी हुई है. परिषद के माध्यम से मंत्रियों को फंसाते हैं. मंत्रियों से भक्तों के कार्य कराते हैं. कुछ कार्य निःशुल्क होते हैं, कुछ में तगड़ी रकम डकार जाते हैं. एक अनुसंधान-केंद्र भी खोल रखा है. केंद्र विदेशी सहायता से चलता है. किंतु अनुसंधान किस विषय पर होता है, किसी को पता नहीं चल सका.

अग्निहोत्रीजी एक पत्र भी निकालते हैं. संपादक के स्थान पर उनके साले का नाम जाता है. अखबार अगर दस पृष्ठ का निकालते हैं तो उसमें आठ पृष्ठों के सरकारी तथा गैर सरकारी विज्ञापन प्रकाशित होते हैं. अखबार की कितनी प्रतियां छापते हैं, यह भी रहस्य बना हुआ है. सरकारी कोटे का जो कागज मिलता है, उसे खुले बाजार में बेच खाते हैं. इस पत्र के आधार पर ही वे पत्रकार परिषद के विभिन्न पदों पर आसीन रहे हैं. महामंत्री प्रेस कॉन्फ्रेंसों में भी बुलाये जाते हैं. अखबार के कारण नेताओं तथा अफसरों से उनके मृदुल संबंध हैं. आवश्यकता पड़ने पर नेताओं, धनाढ्य व्यापारियों तथा अफसरों को 'ब्लैकमेल' भी करते रहते हैं.

राजनीति का खोमचा भी लगाते हैं. अभी एम. पी. या एम. एल. ए. तो हो नहीं पाये, किंतु चुनाव के समय कुछ धंधा कर लेते हैं. उनके क्षेत्र में जब चुनाव-सभा होती है, तो व्यवस्था ये ही करते हैं. चुनाव के मौसम में धन की एक अच्छी फसल उगा लेते हैं. धन के अतिरिक्त जिस पार्टी के प्रत्याशी का काम करते हैं, उसके चमचों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर लेते हैं. प्रायः उसी प्रत्याशी के चुनाव का ठेका लेते हैं, जो जीतनेवाला होता है. फिर अनेक कमेटियों में घुस जाते हैं. क्षेत्र की पुलिस पर रोब डाल देते हैं. नौकरी दिलाना, ट्रांसफर कराना, गुंडों को आश्रय देना, उनको पुलिस के चंगुल से बचवाना, सीमेंट, चीनी आदि के परमिट दिलाने का कार्य इसी चुनव अभियान के सहारे करते रहते हैं.

एक दिन बता रहे थे कि उन्होंने अनेक संस्थाएं बनायीं अनेक बिगाड़ीं, किंतु कुछ संस्थाएं तो कामधेनु साबित हुईं. अग्निहोत्रीजी का कहना है कि साहित्य में जिस कामधेनु का वर्णन आता है वह तो कहीं दिखलाई नहीं

पोलिश लघुकथा

सूचना

■ यानुश ओसेका

"बैठिए, पाजजिओरेक महाशय."

पाजजिओरेक महाशय बैठ गये.

"क्या सूचना लाये हैं आप?" निदेशक ने पूछा.

पाजजिओरेक महाशय दुःखी लग रहे थे. "आर्मिस्की कहता है कि आप मूर्ख हैं, साब." फर्श पर नजरें गड़ाये हुए उन्होंने आदरपूर्वक कहा, "स्फोगेरोंस्की कहता है कि आप यहां अपनी स्थिति छल और ब्लैकमेल के जरिये बनाये हुए हैं, और ब्रोंस्की ने आपको सूअर, बलात्कारी और असभ्य कहा."

"क्या वास्तव में उसने कहा था ?"

"बिलकुल साब," कुछ देर रुककर उन्होंने कहा, "उसने वास्तव में आपको असभ्य, बलात्कारी और गंदा सूअर कहा था."

"गंदा क्यों?"

"मालूम नहीं साब, मैं स्वयं आश्चर्य में रहा था!"

निदेशक ने अपनी उंगलियां मेज पर मारीं, "ठीक है? यही है न सब?"

"साब, पाब्लिकी सोचता है कि आप मूर्ख हैं," उसने अपनी सूचना जारी रखी, "और बालिगोस्की ने आपको पाजी, पिट्ठू और कपटी कहा, साब."

"शायद शैतान भी कहा हो ?" निदेशक ने पूछा.

"उसने शायद शैतान कहा था." उनके अधीनस्थ ने सहमति जाहिर की.

"नहीं साब, क्योंकि मैंने मन ही मन पूरे वाक्य को दोहराकर प्रयोग किया था, एक बार 'कपटी' कहकर और एक बार 'शैतान' कहकर, तब ही मुझे निश्चय हो पाया. उसने कहा, "इस कपटी को तो जेल में बंद कर देना चाहिए, साब."

निदेशक की आवाज दुःख में डूब गयी थी, "और ग्वाजजिस्की?" उसने पूछा, "वह मेरे बारे में क्या कहता है?"

"कुछ नहीं, साब, वह छुट्टी पर है," पाजजिओरेक महाशय ने एक डायरी निकाली और उसका अध्ययन किया. "बूढ़ा खापट," उसने इससे पढ़ा, "किंतु इसे मैं आपको पहले ही बता चुका हूं, साब. एक श्रीमती कोवाल्स्का हैं, जिन्होंने कहा, 'यही वक्त है, जब वे उसे बाहर निकाल सकते हैं,' और श्रीमती मालीनोव्स्का ने आपको मोटे सिरवाला गुंडा कहा. कुलिकोव्स्की महाशय ने, जो योजना विभाग में नये-नये आये हैं, आपको 'सिफारशी' कहा. ठीक है साब, मैं सोचता हूं, यह पूरी सूचना है."

निदेशक ने लंबी सांस खींची, "धन्यवाद पाजजिओरेक महाशय." पाजजिओरेक महाशय निदेशक के कमरे से बाहर निकल आये. कॉरीडोर में उनके दो साथी खड़े थे. "वह फिर गुस्से में है," पास से गुजरते हुए उन्होंने कहा, "अंदर बैठा वह बेवकूफ बुड्ढा. . ." □

● अनुवाद—रामानंद राठी

देती किंतु संस्था रूपी कामधेनु आजीवन धन तथा प्रतिष्ठा रूपी दूध पूरे परिवार को देती रहती है.

आजकल बेकारी मच्छरों की तरह फैली हुई है. अग्निहोत्रीजी ने संस्था रूपी कामधेनु की सहायता से अपना यह कष्ट भी दूर कर लिया. अब तक अपने पुत्र एवं पुत्रियों के अतिरिक्त दूर तथा पास के अनेक रिश्तेदारों को भी अच्छी-अच्छी नौकरियों पर लगवा चुके हैं. नौकरी देने वाले मंत्री अथवा अफसर का अभिनंदन समारोह का आयोजन किसी भी संस्था के माध्यम से करा दिया जाता है. शीघ्र ही उस मंत्री, अफसर की सहायता से कार्य करा दिया जाता है.

अग्निहोत्रीजी विशेष कार्यों के लिए अस्थायी रूप से विशेष संस्थाओं का निर्माण भी करते हैं. 'दादू स्मारक मंडल' के नाम से प्रतिवर्ष चंदा आता रहता है. दो दिन का जश्न मना लेते हैं. 'बैजू बावरा संगीत समिति' के नाम से प्रतिवर्ष संगीत सम्मेलन का आयोजन करते हैं. बैजू बावरा संगीत विश्वविद्यालय की एक महान योजना की घोषणा भी वर्षों पूर्व कर चुके हैं. अब तक उसके लिए कई लाख रुपये जमा कर चुके हैं. एक करोड़ पूरा जमा हो जायेगा तब विश्वविद्यालय का निर्माण प्रारंभ करेंगे.

संस्थाओं रूपी कामधेनुओं की कृपा से उनके अधिकार में एक मैटाडोर, दो जीपें, एक कार तथा एक स्टेशन-वैगन है. सबके ड्राईवर हैं. इन सबका खर्चा विभिन्न संथाओं के खाते में डाला जाता है. ये अग्निहोत्री, उनके परिवार तथा उनके मित्रगणों की सेवा में अहर्निश लगी रहती हैं.

अग्निहोत्रीजी ने परचूनी की दूकान से अपनी जीवन-यात्रा प्रारंभ की थी. आज संस्थाओं के माध्यम से वे एक लघु-साम्राज्य के स्वामी हैं. अब तो उनके जीवन की दो ही महत्वाकांक्षाएं पूरी होने को रह गयी हैं. एक किसी बड़े राजनीतिक पद के लिए नामांकित होना तथा दूसरा किसी तगड़े अलंकार से अलंकृत होना. उनके चमचों को आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि उनकी अंतिम यात्रा से पूर्व निश्चित रूप से उनकी ये इच्छाएं आसानी से पूरी न की जा सकीं, तो साम दाम दंड भेद से करायी जायेंगी. □

● 13/7, शक्तिनगर, दिल्ली-5

△ के.पी. सक्सेना

एक मार्चीय संस्मरण

अब जो मैं मौसम, हवाएं, फूल, खुशबू और अड़ोस-पड़ोस की कन्याओं का फागुनी मेजरमेंट गिनाने लगूं तो यह सब आदरणीय भाई रवींद्रनाथ त्यागी के अंदाज पर अतिक्रमण होगा!. . . जी हां, अंदाज पर अतिक्रमण! उर्दू के दूसरी राज्य भाषा हो जाने के बाद हम यू. पी. वालों को हक है कि भाषाई पायजामे का एक पायंचा उर्दू में और दूसरा हिंदी में रखें!. . . खैर, जिसमें हमारा चीफ मिनिस्टर खुश, उसमें हम खुश!. . .

किस्सा कोताह यह है कि उस साल भी ससुरे यही फागुन के दिन थे और शहर बांबे का एक बंगला था! खिड़की के बाहर हर तरफ मार्च ही मार्च था! फागुन गांवों, कस्बों और छोटे शहरों में होता है! महानगरों में मार्च होता है और हवाएं भी मार्चीय चलती हैं!. . . मैं और वह समुद्र की तरफ खुलने वाली खिड़की के करीब बैठे थे! वे हलक तक सिंचे थे! छटांक-आध पाव मेरे अंदर भी पड़ी थी!. . . बकाया बोतल में बल खा रही थी! सरकारी मुलाजिम वे भी थे, मैं भी था! मगर हम दोनों ही सरकार और मुलाजमत दोनों से तंग आ चुके थे और किसी नये ढंग से अपना सत्यानाश करना चाहते थे!. . . उनके वालिद एक रियासत के भूतपूर्व मालिक थे, मेरे वालिद एक रियासत के भूतपूर्व दीवान! फर्क इतना था कि उनके वालिद अभी कैश हो रहे थे. . . मेरे खर्च हो चुके थे!. . . उन्हें फिल्म बनाने का खब्त लग चुका था, मुझे लिखने का! इस तथाकथित कला में दोनों संपूर्ण रूप से घामड़ थे! अंधा अंधे से चौराहा पार करा रहा था!

. . . मेरे वालिद की आत्मा और उनके वालिद की रकम शायद इकट्ठी हम दोनों को धिक्कार रही थी कि साले रियासती माहौल में पले लौंडे यह क्या कर गुजरने पर आमादा हैं?. . . उस फागुन तक रेडियो पर मेरे 107 नाटक बज चुके थे! इनमें से शायद एक ही उन्होंने सुना था . . . या शायद एक ही उनके पल्ले पड़ा था! बाप की रकम और बेटे के हौसले ने एक मुश्त जोर मारा और वे मेरे थीम पर फिल्म बनाने को पतले हो गये!. . . उन्हें हमातन गोश (सारा शरीर कान) देखकर मैंने पढ़ना शुरू किया—

"हीरो यूनिवर्सिटी से फर्स्ट क्लास एम. एससी. है—बॉटनी में! रिसर्च का हौसला है! बाप मर जाता है और जायदाद में हीरो के लिए एक बेवा मां, एक छोटा भाई और एक ताजा सिंदूर पड़ी पत्नी छोड़ जाता है! . . ."

"एक मिनट! बॉटनी क्या होती है?"

"यह होती है!" मैंने कैक्टस का गमला उनकी बगल में रख दिया!

"वाह! तब तो उम्दा होती है! बेवा मां, भाई ठीक है! . . . पत्नी हटाओ!. . . पहली ही रील में सारी बॉटनी की ऐसी-तैसी कर दी!. . . रोमांस का स्कोप रखना है! आगे?"

मैंने हीरो की पत्नी की मांग से सिंदूर पोंछकर उसे अलग रख दिया और हीरो को कुंवारा रखते हुए आगे बढ़ा—

"हालात से मजबूर हीरो अपनी उमंगों का लहू पीकर एक छोटे से स्टेशन पर सहायक स्टेशन मास्टर हो जाता है!. . . मीलों सन्नाटा!. . . चौबीस घंटों में दो गाड़ियां ही रुकती हैं!. . . यहां भी हीरो पेड़-पौधों की किताबों में खोया रहता है और खुद को कोमेलेना बेगांलेनसिस का फूल समझता है!. . ."

"यह बंगालिन का फूल क्या होता है?"

"बंगालिन नहीं, बेगांलेनसिस! दुनिया में एकमात्र यही ऐसा फूल है जो जमीन के नीचे खिलता है और अंधेरों में ही फना होकर अपने जैसे दूसरे फूलों की खाद बन जाता है! खैर!. . . इसी स्टेशन पर एक लंगड़ा पैटमैन है जिसकी जवान गदरायी बेटी ट्रेन पर पान बेचती है! ब्याह हो चुका है! अपाहिज बाप गौना नहीं दे पा रहा है!. . . सुबह-शाम गंदी नजरें पड़ती हैं, मगर बाप जानता है कि सिग्रेट की डिब्बी के साथ पन्नी का लगा होना जरूरी है!. . ."

"यहां बगल में पेंसिल से एक फ्लैश बैक लिख लो! लड़की सजी-धजी बेहद तंग कपड़ों में फाग खेलती है. . . नाचती है!"

मैंने पेंसिल से भूखी खस्ताहाल खामोश लड़की को फागुन में नचवा दिया और कपड़े भी काफी तंग कर दिये!. . .

"क्या हीरो बंबई का स्टेशन मास्टर नहीं हो सकता?"

"जी नहीं!. . . वहां सीनियर ग्रेड के लोग होते हैं! हीरो अभी 330-450 ग्रेड में शुरू हुआ है!. . . रात के सन्नाटे में वर्दी पर लगा बिल्ला उस गोल्ड मैडल जैसा झलक उठता है जो कन्वोकेशन में उसके काले गाऊन पर टांका गया था! . . . इसी स्टेशन पर एक नौजवान पोर्टर है जिसके गले में बला का दर्द है! कभी नौटंकी में गाता था!. . . पेट की मार रेलवे में ले आयी! एक तार बाबू है, जो होम्योपैथी का

आसपास बिखरी कहानियां

परमीशन

▣ अहमद अली सिद्दिकी

जिला शिक्षा अधिकारी ने कहा, "आपने पिछले साल परमीशन का मिसयूज किया. इस साल आपको परमीशन नहीं मिल सकती. यह कोई बात नहीं है कि आपका बी. ए. फाइनल है, इसलिए परमीशन दी ही जाये. ...ठीक है आपके पिताजी ने हमें पढ़ाया था, मैं उनका सम्मान करता हूं, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि मैं आपके लिए गैरकानूनी काम करूं. मैं यहां नियम का पालन करने बैठा हूं, तोड़ने के लिए नहीं. आप जाइए, मैं मजबूर हूं, कुछ नहीं कर सकता."

अध्यापक पन्नालाल को उस क्षण जिला शिक्षा अधिकारी महोदय बड़े नैतिक और तेजस्वी प्रशासक लगे. सुंदर अक्षरों में लिखी अपनी अर्जी लिये मास्टर साहब चेंबर से बाहर आ गये.

मास्टर साहब ने अपनी समस्या इरशाद मेकैनिक को बतायी. इरशाद के पास जिला शिक्षा अधिकारी का स्कूटर सुधरने आता था और उस समय भी स्कूटर वर्कशॉप में था.

मास्टर साहब बाहर रहे और इरशाद अंदर गया. उसे देखते ही जिला शिक्षा अधिकारी ने पूछा, "कितने का बिल बना?"

इरशाद ने कहा, "छियालीस रुपये पच्चीस पैसे. मगर सर, मैं पैसे नहीं लूंगा. मेरा छोटा-सा एक काम है."

जिला शिक्षा अधिकारी ने पूछा, "क्या?"

इरशाद ने कहा, "मेरा छोटा भाई मास्टर है, इम्तहान की परमीशन चाहता है."

जिला शिक्षा अधिकारी जो फाइलों पर हस्ताक्षर कर रहे थे, सिर झुकाये हुए कहते हैं, "ऐप्लीकेशन है?"

इरशाद ने मास्टर साहब की वही अर्जी जिला शिक्षा अधिकारी के सामने रख दी और बिना नजर डाले उस पर भी कलम चल गयी.

इरशाद के चेंबर से बाहर आने पर मास्टर साहब ने देखा अर्जी पर लिखा था, 'परमिटेड' और नीचे जिला शिक्षा अधिकारी महोदय के हस्ताक्षर. मास्टर साहब ने मेकैनिक को छियालीस रुपये पच्चीस पैसे का नकद भुगतान कर दिया. □

माहिर है!...एक गार्ड है जो शायर है!...रात के सन्नाटे में सब का फागुनी अतीत आषाढ़ के दर्द जैसा कराह उठता है!...फिर एक रात!...आप सो रहे हैं क्या?..."

"नहीं नहीं!...होम्योपैथी कराह उठती है! फिर एक रात क्या हुआ?...'रेडियो प्ले' सुने अर्सा गुजर गया!..."

"फिर एक रात प्लेटफॉर्म के टिमटिमाते अंधेरे में एक इंजन ड्राइवर उस खामोश लड़की को..."

"ठहरिए! फिल्म यहीं से शुरू करेंगे!...क्या होता है खामोश अंधेरे में?" वे बकाया बोतल सींच चुके थे!

"कुछ नहीं होता है!...कुछ होने से पहले ही वह ए. एस. एम. उस लड़की के आंसू सोख लेता है!..."

"बंडल!...एक चांस उभरा और आपने साले आदर्शवाद की रजाई ओढ़ा दी!...बाजू में पेंसिल से लिखिए —रेप सीन!..."

मैंने उनके कहे मुताबिक पेंसिल से उस ड्राइवर और लड़की की ऐसी-तैसी करा दी! उन्होंने पेंसिल चूमी—"आगे?..."

"उस रात एस. एम. के कमरे के खामोश सन्नाटे में हीरो, तार बाबू, पोर्टर, गार्ड और लड़की का बाप अपने-अपने आंसुओं से एक शपथ लिखते हैं कि शिकंजा तोड़ेंगे!...जो जहां के लिए बना है वहीं जायेगा!...साझे का भात देकर उस लड़की का गौना होगा!...मगर पौ फूटते ही ट्रेन आती है...सब अपने-अपने काम से लग जाते हैं!...लड़की की सहमी आवाज फूटती है...पान...बीड़ी...सिग्रेट!"

"आगे?"

"कुछ नहीं! शिकंजों के आगे और कुछ नहीं होता!"

"तोड़िए! साली फिल्म बनानी है! लड़की रिवोल्ट करती है! ए. एस. एम. के साथ भाग जाती है! पेंसिल से लिखिए! ..."

"मैं अब पेंसिल से और कुछ नहीं लिख सकता! मैंने पेंसिल से कुछ लिखा भी नहीं! इस कहानी की गंदगी को पाकीजा, या पाकीजगी को गंदा मैं नहीं कर सकता!...बॉटनी का वह फर्स्ट क्लास एम. एस-सी., ए. एस. एम. मैं खुद हूं—के. पी. सक्सेना! परंपरानुसार आप किसी विदेशी कहानी को स्वदेशी पाजामे में ढाल लीजिए!...अब इस उम्र में मैं उस पानवाली लड़की के साथ नहीं भाग सकता, जो अब न जाने कहां है!...यादों की एक अलग खुशबू होती है...चंपा की तरह! मैं कहानी बेच सकता हूं, खुशबुएं नहीं!...आप कोई पूरी कहानी पेंसिल से लिखी चुनिए जिसके पात्रों का दर्द रबड़ से मिटाकर जख्मों पर रंगीन पट्टियां बांधी जा सकें!..."

मेरे पिता की आत्मा को न जाने कैसा लगा होगा?...उनके पिता की रकम एक फिल्म पर लग गयी जो अगली होली रिलीज हो गयी! मैंने देखी नहीं क्योंकि पेंसिल से लिखी कहानीवाली फिल्में अमूमन एक जैसी होती हैं!... ▣

● 176/11, गुईन रोड, लखनऊ.

तस्वीर बोलती है

यह तस्वीर क्या बोलती है?—इस चित्र का कोई मनपसंद शीर्षक सिर्फ पोस्टकार्ड पर अपने नाम-पते सहित, 25 मार्च, 82 तक इस पते पर भेज दें—**संपादक, सारिका (तस्वीर बोलती है : 304) 10, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002.** चुने गये तीन शीर्षकों पर क्रमशः 50,30 और 20 रुपये के तीन नकद पुरस्कार दिये जायेंगे. आप कितने भी शीर्षक भेज सकते हैं लेकिन हर पोस्टकार्ड पर यहां प्रकाशित 'तस्वीर बोलती है' बतौर कूपन चिपकाना आवश्यक है.

▣ **छाया : फाल एस. गिरोटा, 3277, तिराहा बहराम खां, दरियागंज, नयी दिल्ली-2**

लघुकथा

नामर्द

◘ शैलेंद्र चौहान

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"नाम से तुम्हें क्या लेना-देना? अपना काम करो और फूटो!"

"देखो, तुम पैसे की चिंता बिल्कुल मत करो. पैसे अपने ले लेना. कुछ ज्यादा ही मिलेंगे. मैं जो पूछता हूं, वह बताओ."

"अच्छा. . .बड़ा आया धन्ना सेठ! ला निकाल पैसे."

"ये लो दस रुपये."

"चल, अब जल्दी निपट. अगला गिराहक भी देखना है!"

"नहीं-नहीं, करना कुछ नहीं है. बस दो-चार बातें यूंही पूछने आया था."

उसने पल्लू, झटके से वापस कंधे पर डाला. आदमी का कॉलर पकड़कर दरवाजे से बाहर धक्का दिया और झुंझलायी, "न जाने कहां-कहां से चले आते हैं स्साले दिमाग खराब करने, नामर्द कहीं के!"

दस रुपये का नोट ब्लाउज में खोंसते हुए वह गली में आगे बढ़ गयी! □

● 400, के.बी. बांधकाम, श्याम नगर, नांदेड़ (महाराष्ट्र)

प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 'डी' के अंतर्गत अपेक्षित 'सारिका' नामक समाचारपत्र से संबंधित स्वामित्व और अन्य बातों का ब्यौरा

1. प्रकाशन का स्थान	10, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002.
2. प्रकाशन की आवर्तता	पाक्षिक
3. मुद्रक का नाम	श्री रमेशचंद्र, स्वत्वाधिकारी, बैनेट, कोलमैन एंड कंपनी लिमिटेड के लिए.
क्या भारतीय नागरिक हैं?	हां.
पता	4, तिलक मार्ग, नयी दिल्ली.
4. प्रकाशक का नाम	
क्या भारतीय नागरिक हैं?	
पता	क्रमांक 3 के अनुसार.
5. संपादक का नाम	श्री कन्हैयालाल नंदन
क्या भारतीय नागरिक हैं?	हां
पता	10, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002.

6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जो समाचारपत्र के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार या भागीदार हैं—

भागीदार :

(1) श्री अशोक कुमार जैन, 6, सरदार पटेल मार्ग, नयी दिल्ली-110011.

(2) अशोका होल्डिंग्स लि., टाइम्स हाउस, चौथी मंजिल, 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002.

(3) अशोका विनियोग लि., 14, गवर्नमेंट प्लेस ईस्ट, कलकत्ता-700001.

(4) भारत निधि लि., टाइम्स हाउस, चौथी मंजिल, 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002.

(5) कुमारी नंदिता जैन, शांति निकेतन, बारहवीं मंजिल, 8, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-700017.

(6) श्री मनोज कुमार जैन, शांति निकेतन, बारहवीं मंजिल, 8, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-700017.

(7) श्री अक्षय कुमार जैन तथा श्री लक्ष्मीचंद्र जैन, द्वारा–भारतीय ज्ञानपीठ, बी/45-47, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-110001.

(8) श्री नेमिचंद्र जैन तथा श्री प्रभुदयाल डबरीवाला, द्वारा—साहू जैन ट्रस्ट, 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002.

(9) पी. एन. बी. फाइनैंस एन्ड इंडस्ट्रीज लि., बी/45-47, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-110001.

(10) मै. साहू जैन लि., टाइम्स हाउस, चौथी मंजिल, 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002.

(11) मै. साहू प्रापर्टीज लि., 8, कैमक स्ट्रीट कलकत्ता-700017.

(12) श्रीमती इन्दु जैन, शांति निकेतन, बारहवीं मंजिल, 8, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-700017.

(13) श्री समीर कुमार जैन, शांति निकेतन, 14वीं मंजिल, 8, कैमेक स्ट्रीट, कलकत्ता-700017.

(14) श्रीमती मीरा जैन, शांति निकेतन, 14वीं मंजिल, 8, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-700017.

मैं, रमेशचंद्र, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही हैं.

1 मार्च, 1982 — रमेशचंद्र, प्रकाशक

परिचर्चा ◘ जया रमेश

जमाना बुरा हो गया है या लोग?

न तो अब कृष्ण ही रहे हैं और न गोपियां. वह जमाना गोपियों की भावुकता का था या कृष्ण की बांसुरी के जमाल का, कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन यह स्वयं सिद्ध है कि चुहलबाजी हमें पारंपरिक रूप से विरासत में मिली है. जीजा-साली, देवर-भाभी के कटाक्ष तो हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बन चुके हैं. गुमसुम रहनेवाले लोगों के लिए भी एक ग्रामीण कहावत है—पागलों की हंसी घर-परिवार के साथ! परंतु पीढ़ी दर पीढ़ी अधिक सभ्य होकर गांव से नगर और नगर से महानगर की तरफ पहुंचती संस्कृति घर-आंगन से सड़क पर आकर अब इस प्यार-तकरार को एक असामाजिक-सा रूप दे रही है, जिसके बारे में युवक-युवतियों की भिन्न-भिन्न राय है. आइए, जरा देखें—

प्रेम : स्थान का अभाव?

◘ सुभाष चंद्र निगम

आधुनिकता, जो पाश्चात्य संस्कृति का पर्याय बन गयी है, जहां एक ओर हमारे देश को यांत्रिक प्रगति की ओर ले जा रही है वहीं दूसरी ओर हमारी सभ्यता व संस्कृति को कैंसर बनकर खाये जा रही है. सामाजिक मूल्यों में आयी गिरावट से इसका आभास होता है. यों तो हमेशा से नारी के सौंदर्य से प्रभावित होकर हर आयु वर्ग के मन में विशेष प्रकार की उत्तेजित तरंगों का उदय होता है किंतु अधुनातन होते जा रहे समाज में यह भावनाएं विकृत होकर छेड़-छाड़ का रूप ले रही हैं. महिलाओं द्वारा पुरुष के समान अधिकार मांगने के कारण उन्हें आजादी अवश्य पहले से अधिक मिल गयी है किंतु शिक्षा अथवा दैनिक कामों के लिए घर से बाहर उत्तेजित वेश-भूषा में आना छेड़छाड़ को प्रोत्साहित करता है. पारिवारिक घुटन भी है, जिससे मनोवैज्ञानिक यौनिक कुंठाएं जन्म लेती हैं. घर में प्रेम और स्थान का अभाव भी युवा पीढ़ी को बाहर जाकर असामाजिक कार्य करने को बाध्य करता रहता है!

कतई गंभीर मसला नहीं!

◘ सुमन टंडन

छेड़छाड़ का मामला इतना गंभीर नहीं कि जिस पर लोक सभा में बहस चले. उनका कहना है कि काफी समय से यह मसला गंभीर रूप से देश में चिंता का विवाद बना हुआ है, सिर्फ देश की पुलिस ही नहीं बेश के वरिष्ठ नेताओं तक छेड़छाड़ के छींटे पहुंचे हैं. युवा उम्र में छेड़छाड़ जरूरी है. इतनी मामूली छेड़छाड़ की तो लड़कियों तक को आदत होती है. बिना इसके अपने कुछ भी न होने का एहसास सालता है. . . यानी लगता है हमारी उपस्थिति का दूसरे के वास्ते मानो कोई महत्त्व ही नहीं. ऐसी भी लड़कियां हैं जो घर जाकर आईना देखती हैं और दिन भर में मिले कमेंट्स का मूल्यांकन करती हैं!

दोषी सिर्फ लड़के नहीं

◘ राज्यवर्द्धन सिंह

अजीब इत्तफाक है. . .मेरे अनुभव ठीक इसके विपरीत हैं. जहां देखो अंदर-बाहर कॉलिज हो या खेल का मैदान, न जाने कहां से मधुमक्खियों के छत्ते की तरह इकट्ठी होकर लड़कियां आस-पास मंडराने लगती हैं और परेशान कर देती हैं. . . अपनी फिकरेबाजियों से. उनके सामने तो कभी कुछ नहीं कह पाते मगर घर आकर बड़ी कोफ्त होती है और अगले दिन साथियों के साथ मिलकर उन्हें छेड़ने की योजना बनानी पड़ती है. . .पर सफलता कभी-कभार ही हाथ लगती है. इसलिए दोषी केवल लड़के नहीं. मगर हां, जो इस फन में माहिर हैं, दरअसल, उनकी नजर लड़कियों की भड़कीली पोशाकों के प्रदर्शन और मेकअप के भौंडेपन को पचा नहीं पाती. इसीलिए उन्हें रिमार्क कसने पड़ते हैं. कुल मिलाकर छेड़छाड़ का बस अपना एक अलग सुख होता है. वह सुख है नितांत वैयक्तिक संतुष्टि का.

खयाल अच्छा है गालिब!

◘ कृष्णा कुमार प्रधान

आशिकाना अंदाज में इशारे से शुरू होने वाली छेड़छाड़ कभी-कभी बलात्कार तक पहुंच जाती है, तो कभी बड़े सभ्रांत ढंग से "एक्सक्यूज मी प्लीज" कहकर या फिर जबरन गाड़ी में लिफ्ट देने को बेताब लोगों की वजह से. कुछ भी हो इस अशोभनीय व्यवहार से हम लड़कियों को प्रायः अपमानजनक स्थिति से गुजरना पड़ता है. यदि इसे एक ओर शिक्षा का अभाव कहा भी जाये तो दूसरी ओर शिक्षित वर्ग भी इस कला में कम उस्ताद नहीं. यों समझो कि सिनेमा, सस्ता साहित्य और असफल वैवाहिक जीवन के संदर्भ में अतृप्त इच्छाओं के कारण पनपी यह कमजोरी दिलफेंक अदा में. . . दिल के बहलाने को गालिब का खयाल बन गयी है.

लघुकथा

आंख

▣ रमेश सैलानी

एक बस्ती थी. सिर्फ अंधों की बस्ती. उन अंधों के बीच एक अंधा एक दिन झरने के पास, यूंही एक छोटे-से पत्थर को उंगलियों में नचाता, चुपचाप बैठा हुआ था. अचानक उसे एक बात सूझी. उसने जोर-जोर से चीखना शुरू कर दिया, "आंख मिल गयी ! . . . आंख मिल गयी...!"

फिर सारे आश्चर्यचकित अंधों को संबोधित कर उसने बोलना आरंभ किया, "मैं यहीं बैठा था कि एक आवाज सुनकर चौंक गया, मैं चीखा, "मैं अंधा हूं. कौन हो तुम ?" प्रत्युत्तर में आवाज आयी—"हथेली फैलाओ. . ." मैंने हथेली फैला दी. किसी ने मेरी हथेली पर पत्थर जैसा कुछ रख दिया. मुझे सब कुछ दिखाई देने लगा. देखा, भगवान मेरे सामने खड़े थे. अहा ! क्या रंग था चेहरे का! ...हरा!"

भला जिसे भगवान ने आंख दी हो, उसे अंधे क्यों न पूजने लगते !

इस तरह एक के बाद एक रंगीन बरस बीतते गये. भगवान जी की भी उम्र बीतने को आयी. उन्हें शैया पर लिटा दिया गया. वह भरी हुई आवाज में बोले, "मेरे प्यारो ! मेरी आत्मा को भगवान से मिलना है. क्या करूं, विवशता है. मैं अपनी आंख को उछाल रहा हूं, जिसे भी मिले. . . उसे राजा बना देना !" और उसने उस छोटे पत्थर को हवा में उछाल दिया, जिसे वह आंख बनाये था. हड़बड़ाकर सभी अंधों ने जमीन में टटोलना शुरू कर दिया.

अब हर अंधे की मुट्ठी में एक छोटा पत्थर था और हर अंधा पूरे विश्वास से चीख रहा था कि आंख सिर्फ उसी के पास है. . . ! □

● चापदनी, बांस बगान, हुगली

नग्नता इतनी भयानक तो नहीं!

▣ दिविक रमेश

छेड़छाड़ लड़कों का अपनी सहज भावनाओं की अनुचित अभिव्यक्ति पर नियंत्रण खो देना है. इस अनियंत्रण के लिए उम्र का तकाजा उतना उत्तरदायी नहीं जितना कि बीमार माहौल. एक समय में नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण असहज नहीं लेकिन इसे "पशुवत् अभिव्यक्ति" न होने दें, इसके लिए सामाजिक मूल्यों, संस्कारों, नैतिक दबावों और सही समझ आदि का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है. इस विसंगत वातावरण में नग्नता उतनी भयानक नहीं जितने की नारियों के उत्तेजक पहनावे, शृंगार, हावभाव आदि, मानो कि मर्द के संयम की परीक्षा के लिए इन्हें धारण किया जाता हो. सेक्स और उससे संबंधित जानकारियों को बहुत अधिक रहस्यात्मक, वर्जनात्मक बनाने तथा उनका सीधा संबंध चरित्र से जोड़ देना भी इसके लिए उत्तरदायी है. अंत में यह भी कि जहां नारी को भी तत्संबंधी अपने परंपरागत संस्कारों (यानी स्वयं को सौंदर्य की वस्तु के रूप में ही प्रस्तुत करना आदि) से सतर्क रहना होगा. अभी ऐसा नहीं हो रहा.

अस्तित्व पर हमला!

▣ इरांपदर पुरी

घर के दरवाजे से बाहर झांकती औरत से लेकर, कॉलिज में पढ़ती, सड़क-बस पर चलती या खेल के मैदान दफ्तर या स्टेज पर सक्रिय हर स्त्री को सामना करना पड़ता है इस छींटाकशी का. यह बात अलग है कि कॉलेज के जमाने में घर या बाहर से मिली प्रशंसात्मक टिप्पणियां बेहद सुखद लगती हैं और उस जमाने की एक गूंगी मिठास छोड़ जाती है. इसके अतिरिक्त ऐसे कमेंट्स भी हमें मिलते हैं, जिनमें जिस्म या सेक्स को लेकर एक निहायत भद्दा मजाक होता है. दफ्तर में भी एक सक्षम मैनेजर की हैसियत से स्थापित होने की लड़ाई में जूझती मेरे अंदर की औरत हारी हुई महसूस करती है. क्योंकि छींटाकशी मुझे अपने स्व और अस्तित्व पर एक हमला लगता है. ऐसे में (अपनी बनी हुई इमेज के साथ) जिन लोगों के साथ मुझे काम करना होता है या जिनसे मुझे काम लेना होता है, छेड़छाड़ से आघात पहुंचता है.

नारी को विशेष स्थान क्यों?

▣ उमाशंकर पथिक

शारीरिक-मानसिक संतुष्टि के लिए नारी और पुरुष पूरक हैं. एक-दूसरे के. . .फिर नारी को विशेष स्थान क्यों? नारी सब कुछ अपने सौंदर्य से पाना चाहती है. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में खासकर साहित्य, राजनीति, संगीत और कला के क्षेत्रों में भी प्रायः पाया जाता है कि सौंदर्य अपने-आप में योग्यता से अधिक नंबर ले जाता है. वह संघर्ष में पुरुष का मुकाबला करने को तैयार नहीं. अपितु मालूम नहीं कौन-सी आजादी चाहती है. यह भी एक सामाजिक अपराध है, जो पुरुष वर्ग में कुंठा को जन्म देता है. और कुंठा 'ईव टीजिंग' जैसे अन्य अपराधों को. ऐसे अपराधों के छींटे खट्टे-मीठे नहीं, कड़वे होते हैं!

फुटपाथिया साहित्य और यह फिल्में

▣ राजकुमार गौतम

इस विषय का ऐतिहासिक दखल कितना भी रहा हो, उसकी तलाश एक शास्त्रीय किस्म की जिज्ञासा जरूर हो सकता है. संबंधों की भारतीय परंपरा को समक्ष रखते हुए छेड़छाड़ को भला अनैतिक क्यों नहीं कहा जा सकता? उम्र का तकाजा तो इसे माना ही नहीं जा सकता. इसमें जहां एक ओर विकृत मानसिकता पनपती है, वहां किशोर मन में दूसरों के साथ स्वयं को भी प्रतियोगी स्तर तक खींच लाने तथा उन तमाम व्यसनों की तरह मान्यता देने की खोखली हठधर्मिता भी आती है जो कि सोसायटी में 'मूव' करने की विस्तारवादी चेतना पर आधारित है. इसके लिए दोषी हमारा फुटपाथिया किस्म का साहित्य नहीं, इसका एकमात्र दोषी मैं आजकल दिखाई जा रही पिचानवें प्रतिशत फिल्मों को मानता हूं. छेड़छाड़ के सुखद परिणामस्वरूप नायक-नायिका का संयोग स्थापित हो अनेकानेक कारगुजारियों के बाद चरम-मिलन में समाप्त होना, किशोर मानसिकता के वास्ते एक खतरनाक व पतनोन्मुख मरीचिका है. फिल्मों में छेड़छाड़ के गुदगुदे अंदाज इस थोथी अवस्था के लिए सरासर दोषी हैं. मैं यहां यह स्पष्ट कर देना चाहूंगा कि मैंने प्रवृत्ति की बात की है, युवक या युवती की नहीं. . .! हमारे दफ्तर में एक युवती ऐसी भी थी कि उसकी आंखें साठ बार प्रति मिनट के हिसाब से यह देखने को फिरती रहती थीं कि उसे कौन कैसे देख रहा है!. . .कुल मिलाकर इस प्रवृत्ति को मैं लंगड़े आवारापन, गलत मान्यताओं व अनावश्यक व असामाजिक तथ्य के रूप में ही स्वीकार कर सकता हूं.

हवा, हवालात की

अनिल कौशिक

एक ग्रेजुएट महाशय, एक नर्स पर फिदा हो गये. जब हर तरफ से नाकामयाबी हासिल होने लगी तो एक दिन आव देखा न ताव. . . . . कर दिया एक पत्र पोस्ट उस नर्स के नाम. क्योंकि अब तक 'वन वे ट्रैफिक' था और वह नर्स उनसे परिचित भी नहीं थी—इसलिए उस नर्स ने नाराज होकर पुलिस तक बात पहुंचा दी. पत्र में वह ग्रेजुएट महाशय उस नर्स से कुछ भद्दे प्रस्ताव कर गये थे. तो मालूम है, इसका क्या इनाम मिला उन महाशय को? जनाब को हवालात की हवा खानी पड़ी.

जी हां, चौंकिए नहीं ! यह बिलकुल सच है, क्योंकि छेड़छाड़ एक सामाजिक बुराई ही नहीं, कानूनन अपराध भी है. आधुनिक सभ्यता का एक नया रंग, जो आपकी शामों को रंगीन बनाता है और इस छेड़-छाड़ में आप आनंद भी महसूस करते हैं, मगर कभी किसी चुस्त महिला के हाथों लग गये तो जनाब आपको 'कंगन' पहनवाकर ससुराल के दर्शन करवा देगी. . .और धरी रह जायेगी आपकी सारी रंगीनियां शाम की.

भारतीय दंड संहिता (इंडियन पीनल कोड) की धारा 509 के अनुसार किसी महिला की मर्यादा भंग करना, उससे छेड़-छाड़ करना, कोई अपशब्द बोलना या कोई भद्दा गीत गुनगुनाना, जिससे उसकी मानहानि होती हो, दंडनीय है. इस अपराध में अभियुक्त को एक वर्ष की कैद या जुर्माना या दोनों भी हो सकते हैं. □

औरत शरीर से अलग

▣ अंजना अपर्चना

छेड़छाड़ के पीछे प्रमुखतः राग द्वेष की भावना ही काम करती है. मैं यह नहीं बता सकती कि यह क्यों और कैसे पैदा होता है किंतु महानगरों में इसका स्तर हिंसा तक पहुंच जाता है, हालांकि हमारे दक्षिण भारत में ऐसा नहीं होता. लड़कियों का सौंदर्य एक विशेष हद तक दूसरी लड़कियों के वास्ते भी आकर्षण का केंद्र होता है. फिर लड़कों के लिए तो इसका आकर्षण कुछ है ही अधिक. लड़की से दोस्ती हो जाने पर अन्य सब परिस्थितियां छोड़कर यौन संबंध ही महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं और महज इसी पर ध्यान को केंद्रित किये रखना ही तनाव की स्थिति पैदा करता है. . . और यह स्थिति तब तक नहीं सुधरेगी जब तक कि औरत को शरीर से अलग करके नहीं परखा जायेगा.

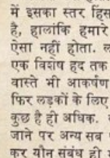

इन टिप्पणीकारों के विचारों में कुछ जवाब भी हैं तो सवाल भी कम नहीं. छेड़छाड़ के पक्ष में सोचते हुए यह कहा जा सकता है कि यह सोलह साल की उम्र का मनोरंजक तकाजा है. . .कि समवयस्कों के बीच होनेवाली नोंक-झोंक है. . .कि गुमसुम होते जा रहे माहौल की अजनबियत तोड़ने का माध्यम है. . .मगर इस तरह यह छेड़छाड़ अपने-आप में हमें कोई संपूर्ण अर्थ नहीं देती और तब तक नहीं देगी जब तक कि इसके खेलनुमा पहलू बाद में रखकर पहले इसके सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों को सामाजिक कसौटी पर न परखा जाये! अन्यथा वर्तमान स्थितियों में तो यही कहा जा सकता है कि कोई लोगों को कोस रहा है तो कोई जमाने को. . .और माहौल में रंग जमा देनेवाली चुहल है कि सड़क पर खून के आंसू रो रही है. □

बढ़ता मंहगाई का प्रेम के मैदान में

● सरोजनी प्रीतम

रसिकलाल का प्रेम महंगाई की तरह बढ़ता गया, जकड़ता चला गया और उनका उसके चंगुल से छूटना मुश्किल हो गया. कभी-कभी तो यह बुखार उनके सिर पर चढ़कर बोलने लगता. उनका जी चाहता कि गली में खड़े होकर वह लैला-लैला की हांक लगायें, पर उस गली में रहने वाली सभी लैलाएं बढ़िया कंपनी के जूते-चप्पल पहनती थीं और जूडो-कराटे सीख रही थीं. मुहल्ले के लोग भी बहुत बड़े तीरंदाज थे, ईंट-पत्थर लेकर ताक लगाये बैठे रहते थे. रसिकलाल ने तब मुहल्ले के प्रेम को तिलांजलि देकर कहीं दूर कौड़ी फेंकी. मां-बाप ने उनकी शादी तो कर दी थी, लेकिन पत्नी ने जीवन नरक बना डाला. बेचारे यहां-वहां स्वर्ग की तलाश में भटक रहे थे. ऊंट-सी गर्दन निकालकर हर किसी के यहां तांक-झांक कर उनकी पत्नियों की नब्ज टटोलते. मित्र प्रेम से आगे बढ़कर उनकी पत्नी तक प्रेम का प्रसार करते, लेकिन मुंह की खानी पड़ती. प्रेम उन्हें बहुत महंगा पड़ने लगा तो उन्होंने सोच लिया कि किसी चिरकुमारी को ढूंढ निकालें, जिसके मन से शादी का फितूर निकल चुका हो, जिसका प्रेम शुद्ध हो, ताकि उसमें खोट या मिलावट सिद्ध करनेवाले के लिए नकद पुरस्कार की घोषणा की जा सके. इसके लिए चिरकुमारी का इतिहास और भूगोल जानना भी जरूरी था. इतिहास इसलिए कि हर लैला अपने दिल का पौधा उखाड़कर जब चायल के पौधे की तरह जहां पानी मिले, लगाने लगती है तो वह उस भूमि को जरूर देखती है. जहां पहले ही पीपल का पेड़ लगा हो, वहां समाधि लगानेवाली कन्या का अपना इतिहास जरूर रहा होगा, वरना हर भला व्यक्ति एक उम्र के बाद शादीशुदा हो जाता है. तब प्रेम का जीव बनकर अपने मगरमच्छ से बैर मोल लेकर जान जोखिम में कौन डालेगा. रसिकलाल तो अपना कलेजा हमेशा की नाईं पेड़ पर टांग जाते ताकि उसपर मधुमक्खियां छत्ता बनाएं और फिर जब उनकी श्रीमती धुआं देकर मधुमक्खियां को उड़ा देंगी तो वे शहद के चटखारे तो ले ही सकेंगे. वैसे पत्नी के सामने वे भीगी बिल्ली चाहे बने रहे हों, शिकार करने का शौक उनका पुराना था और वे इसके लिए हमेशा मचान बांधे रहे. जाने किस-किसने उनकी खाल और सींग अपने ड्राइंग रूम में सजायी और किसने हमेशा सींगों पर उठाये रखा, यह सब बातें पुरानी होती चली गयीं. प्रेम की आग से आंखें सेंकनेवाले की पलकें जल जायें तो हैरत क्यों? वे जिन नदियों में पानी देखते, उनपर पुल बांधने लगते, बिजली गिरानेवालों पर बांध बांधकर अपनी डैम योजनाओं को कार्यान्वित करने की सोचते और फिर मन मारकर रह जाते. महंगाई के कारण वे किसी 'कमाऊ जाति' की प्रेमिका से ही दिल लगा सकते थे, क्योंकि प्रेम का सौदा तभी सस्ते में हाथ लग सकता था, लेकिन जिन दिनों उन पर प्रेम का भूत सवार हुआ, पेट्रोल इतना महंगा न था और वे अपनी मोटर में मीलों चक्कर काटते. घंटों यूनिवर्सिटी के इर्द-गिर्द घूमते. कोई लिफ्ट मांगती तो बढ़कर उसे पलकों पर बिछा लेते और जाते-जाते जब वह एक मुस्कराहट फेंक जाती तो उसी पर घंटों हाय-हाय करते हुए मित्रों में डींग हांकते. आखिर एक दिन चिरकुमारी ने उन पर कृपादृष्टि डाली और रास्तेभर बातें करते हुए बातों ही बातों में उनकी प्रेम की भूख जान गयी. फिर उसने भी अपना पुनः कुमारी होने का रोना रोया और चिरकुमारी रहने की भीष्म प्रतिज्ञा की विवशता बतायी.

रसिकलाल ने अपने हाथ को टटोला तो पांचों उंगलियां घी में देखकर सिर कड़ाही में दे डाला और नये सिरे से प्रेम करने लगे. जब उन्होंने प्रेम किया था, पेट्रोल दो रुपये लीटर था, तनख्वाह पांच सौ रुपये थी और उम्र पच्चीस साल. फिर पेट्रोल तीन रुपये हुआ. फिर पांच पर जा पहुंचा, उम्र तीस साल हो गयी. तनख्वाह आठ सौ रुपया. घर में दो बच्चे आ गये. मन छोटा होता गया. उन्होंने चाहा, प्रेम का चोला पुराने वस्त्र की तरह उतार फेंकें, पर चिरकुमारी प्रेमिका भला ऐसा कैसे होने देती. रसिकलाल ने मोटर बेचकर मोटर साइकिल खरीद ली. प्रेमिका का दिल डूबने लगा. रसिकलाल पीछे न हटे, बोले, "देखो-देखो, मोटर में कितनी दूर बैठते थे. अब तुम मेरे नजदीक हो. मोटर साइकिल ने तो चिपको आंदोलन को जन्म दिया है प्रिय!"

चिरकुमारी प्रेमिका ने शोधकार्य आरंभ किया—महंगाई का प्रेम पर प्रभाव और वह खुद प्रेम करके प्रथम सूचना के आधार पर ही अनुभवों की रिपोर्टिंग करना चाहती थी. अतः उसने अपने प्रेम में कहीं कमी न होने दी, पर महंगाई ने प्रेम को सस्ता सौदा बना डाला. पेट्रोल छह रुपये हो गया तो रसिकलाल जाकर मोटर साइकिल भी बेच आये. प्रेमिका से बोले, "अब देखो न, महंगाई ने प्रेम को भी फुटपाथ पर ला खड़ा

किया. अब हम पैदल प्रेम करेंगे...आओ. . .प्रेम की राहों पर पैदल-यात्रा करें. और वे पैदल चल पड़े. रास्ते में आइसक्रीम देखकर प्रेमिका ने पलभर को चैन की सांस ली तो वे तुरंत बर्फ की तरह ठंडे पड़ गये. बोले, "आइसक्रीम के आसपास का वातावरण ठीक नहीं, छींकें आने लगेंगी. . .चलो बाग में चलें. मन के फूल बाग में खिलेंगे." प्रेमिका ने तब एक नजर भरकर सेब के टोकरे की ओर निहारा तो वे 'हें हें' करते हुए बोले, "महंगाई अब कैसे बढ़ रही है कि सेब खाने की नहीं, सिर्फ वर्णन की वस्तु हो जायेगा. . .प्याज जानती हो, कितना महंगा हो रहा है. अब तो वह जमाना आ रहा है, जब किसी के मुंह से अगर प्याज की बदबू...नहीं...नहीं खुशबू...आयेगी तो लोग उसे बहुत रईस मानेंगे. . ." प्याज की बात पर प्रेमिका को उबकाई आने लगी. वे आगे बढ़ रहे थे. उसकी नजर पीछे फलों में अटकी थी. वे फलों को छोड़कर टोकरे की तारीफ करने लगे. फिर बोले, "हमारे शहर में ऐसी उम्दा टोकरियां बनती हैं कि क्या कहें. . .पर महंगाई ऐसी बढ़ रही है कि अब फल तो क्या, खाली टोकरी भी खरीद सकना मुश्किल है." फिर रसीले वापस प्रिया की आंखों में आंखें डालकर बोले, "तुम्हारी आंखें हैं या नींबू की फांकें. . ." तभी किसी ने हांक लगायी, "रसीले नीबू लो. . ." रसीले को लगा, किसी ने दोनों की बात सुन ली है. प्रेमिका ने मन ही मन नोट किया—महंगाई ने उपमाओं को छोटा करके आम की फांक से नींबू की फांक पर ला खड़ा किया है. हांक लगानेवाले ने भी प्रेम की शुष्कता से प्रभावित होकर ही नींबू के साथ रसीले शब्द का प्रयोग किया है. प्रेमिका को लगा, उसका मन कच्चे घड़े की तरह रह-रहकर टूट रहा है. फिर कच्चे घड़े से वैतरणी पार करने वाली 'सोहनी' याद आयी. प्रेमिका ने मुंह पर पानी के छींटे मार लिये. पैदल चलने के कारण भूख से बेहाल हो उठी थी. पास ही चना जोर गरम वाला आवाज लगा रहा था. रसिक लाल तपाक से बढ़े और दो चना जोर गरम के तुर्रेदार कनटोप लाकर प्रेमिका को नाकों चने चबाने पर मजबूर करने लगे.

वापसी का एक मील पैदल तय करने की बात पर बेचारी का कलेजा मुंह को आने लगा तो वह दबे स्वर में बोली, "उफ्फ, कितना लंबा रास्ता है."

प्रेमी ने तुरंत जवाब में कहा, "सचमुच, प्रेम की राहें कितनी लंबी हैं, गलियां संकरी हैं, यहां छज्जे चौबारे हैं, जहां से प्रेमिकाओं के 'प्रेम नगर में बसाऊंगी घर' का मधुर गीत सुनायी देता है. . .लेकिन प्रेम में घर बसाने की बात ही कहां उठती है. घर बसाने की बात पर महंगाई का रावण आ खड़ा होता है, जो प्रेम की सीता का अपहरण कर लेता है. . ."मैं तो कहता हूं कि सीता न होती, अगर रावण कांड न होता. वह मात्र पतिव्रता सती सावित्री की कतार में ही लगी रह जाती." प्रेमी को इस तरह बहकते देख प्रेमिका का हृदय बल्लियों उछलने लगा. वह प्रेमी की इस वाग्धारा को अब महंगाई की तरफ मुड़ते देखकर प्रसन्न हो रही थी. उसने प्रेमी को और तूल दी ताकि वह बोलता ही चला जाये. . .और प्रेमी सचमुच आगे कहता गया, "मैं तो सोचता हूं कि केवल प्रेम करो, घर बसाने की इच्छा व्यर्थ है. तन-मन के बाद जहां धन का पचड़ा खड़ा होने लगे, ईंधन का चक्कर, संतोष धन को लूट ले जाये, वहीं प्रेम को छोड़ देना चाहिए. शादी से हर व्यक्ति में वैराग्य उपजता रहा. मैं तो कहता हूं, समाधि लगाने वाले संसार से नहीं, बीवियों से भागते हैं. शरीर के अंजर-पंजर में जब किसी सुजाता की खीर पहुंचती है तो. . .लेकिन आजकल खीर भी तो टेढ़ी खीर हो गयी है, चावल कितना महंगा है. हमारे पिताजी के दिनों में चावल इतना सस्ता था कि रोज खीर बनती थी. अब तो मध्यम वर्ग के लोगों के लिए खीर, टेढ़ी खीर हो चुकी है.. . .दूध भी तो कितना महंगा हो गया है. . ." प्रेमिका हंसते हुए बोली, "सिवा प्रेम के और कोई चीज सस्ती नहीं और वह भी यदि पैदल प्रेम किया जाये फुटपाथों पर. . ." कि तभी प्रेमी की पुरानी चप्पल तड़ाक से टूट गयी. वे बोले, "पैदल चलने से यह भी तो नुकसान है न कि चप्पलें घिस जाती हैं, तलवों में छेद हो जाते हैं. . .चप्पल-जूते भी कितने महंगे हो गये. . ." और तब उन्होंने पैदल चलनेवाले इस प्रेम से भी तौबा कर ली और घर में बैठकर प्रेम का वर्णन करने में ही अपनी कुशलता समझी. प्रेमिका ने उन्हें लाख समझाया था कि चरित्र अच्छा रहे तो चप्पल-जूतों की कमी नहीं रहती, खरीदने की नौबत नहीं आती. लोग जूते चलाकर ही उनकी मजबूती का सबूत देने के लिए तत्पर रहते हैं, लेकिन उन्होंने एक न सुनी. प्रेमिका महंगाई से बेहद त्रस्त थी, क्योंकि महंगाई का प्रेम पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि अब लोग एक पत्नीव्रती बनने में ही अपनी खैर समझने लगे. जिस अक्खड़ को बड़े-बड़े उपदेश और धमकियां पत्नी के पास वापस न ला सकती थीं, उसे महंगाई ने वापस घर ला पटका. □

● सी-111 नया राजेंद्रनगर, नयी दिल्ली-110060

ग़ज़ल

ठहरी है बहुत देर में पुरजोर की आंधी,
फिर भी तो आसमान में धूलों का असर है.

चुभती है नर्म शाख भी मौसम के बदन में,
कहते हैं यहां अब भी बबूलों का असर है.

रातों में चौंक जाती है सोयी हुई नदी,
हर बूंद में ढहते हुए कूलों का असर है.

खशबू भी तरफदार है ख्वाजा के चमन की.
मौसम की चापलूसी में फूलों का असर है.

हर बार वही ताज वही तख्त की बातें,
हर दौर में पिछली हुई भूलों का असर है.

मासूमियत से हादसे के बाद वो बोले,
हम हैं न खतावार उसूलों का असर है.

▣ कालिका त्रिपाठी

एक लेखक का किताबें सौंपना पुलिस हैडक्वार्टर पर

▣ प्रेम जनमेजय

"भाई मेरे, पुलिस चौबीस घंटे की सेवक होती है. तेरी 'सेवा' हम करेंगे. तू चिंता न कर, म्हारे बाद जो डिव्टी पर आवेगा, हम अपना चारज सौंपकर जावेंगे. डिव्टी इस डिव्टी!"—पुलिस और पुस्तक के हाल-चाल सुनाती रोचक व्यंग्य-कथा.

वह एक रेलगाड़ी का सफर था. राजनीति, समाज, खेल आदि विषयों में यात्रा करती हुई हमारी बहस साहित्य पर आ टिकी थी. जब तक स्टेशन ने नहीं आना था, बहस का कोई न कोई अहम मुद्दा तलाशना ही था. मेरे सामने बैठे हुए 'सज्जन' धुंआधार बोल रहे थे. मैं कुछ बोलने का प्रयत्न भी करता तो—'मेरी बात पूरी तो होने दीजिए' कहकर मुझे चुप करा देते. स्टेशन आ नहीं रहा था और वह चुप होने का नाम नहीं ले रहे थे. बीच-बीच में डांटते-से अलग जा रहे थे. मैं समझ गया कि वह कौन हो सकते हैं.

अवसर मिलते ही मैंने कहा, "लगता है आप कहीं पढ़ाते-वढ़ाते हैं? और साहित्य ही पढ़ाते हैं शायद. . .?"

"कैसे. . .आपको कैसे लगा?"

"भाई साहब! जिस तरह से आप बोल रहे हैं, साफ लगता है जैसे क्लास ले रहे हैं. वैसे भी आजकल आप लोगों की छुट्टियां चल रही हैं. मन बेईमान हुआ तो आपने सोचा कि चलो रेलगाड़ी में क्लास ले लें. क्यों, है न ऐसा. . .ऽ. . .?" मैं शरारती मुस्कान मुस्कराया.

वह जोर से हंसे और हंसते हुए-से बोले, "अरे नहीं भई, पढ़ाने-वढ़ाने से हमारा क्या लेना-देना! थोड़ा बहुत समय मिल जाता है तो उसमें अपना शौक पूरा कर लेते हैं. वरना आप ही सोचें कि कहां साहित्य और कहां पुलिस की नौकरी. . .!"

"आ. . .ऽ. . .ऽ. . .प आप. . .पुलिस में हैं? पु. . .ली. . .स में हैं?" मेरी जुबान लड़खड़ा गयी और आंखों के आगे अंधेरा छा गया. मैंने अपनी जेब पर हाथ रख लिया और सामान पर सुरक्षाभरी नजर डाली. सोचा, देखने-बातचीत करने में तो यह शरीफ आदमी लगता है!

"क्यों क्या बात हो गयी, आप इतना घबरा क्यों गये? पुलिस का नाम सुन लिया, इसलिए? भाई जान, इसमें आपका भी कसूर नहीं है. आप तो अपरिचित हैं, यहां अपने रिश्तेदार घर बुलाने से डरते हैं. शुरू-शुरू में तो मेरे बच्चे भी, मेरे आते ही खाट के नीचे छिप जाया करते थे." वह थोड़ा मुस्कराये और हंसते हुए बोले, "यहां तक कि सुहागरात में मेरी पत्नी सारी रात मुजरिम की तरह मेरे सामने खड़ी रही थी."

इस बीच स्टेशन आ गया.

"लीजिए, स्टेशन आ गया. सामान समेटिए और ध्यान से अपना सामान देख लीजिएगा. . .मैं साथ हूं." यह कहकर पुलिसवाले सज्जन (?) जोर से हंसे.

"अरे नहीं. . .आप तो शर्मिंदा करते हैं. . .वो ऐसा है कि पुलिस के बारे में जो राय है. . .आप तो निहायत ही शरीफ आदमी हैं." मैंने खिसियाते हुए कहा.

"चलिए, किसी ने हमें आदमी तो समझा, हा. . .हा. . . हा. . .! खैर मिलने आइएगा, हैडक्वार्टर में. आपकी पुस्तक पढ़ना चाहूंगा, जरूर. दो कापियां अपनी लाइब्रेरी में भी रखवा दूंगा. अच्छी किताबें तो होनी चाहिए. आपको घर बुलाता. . .पर बीवी-बच्चों को अपने ससुराल ही छोड़कर आ रहा हूं. पुलिस-हैडक्वार्टर, आई. टी. ओ. पर है, किसी से 'स्पैशल सैल' पूछ लीजिएगा. आइएगा जरूर." उन्होंने हाथ मिलाते हुए कहा.

"हां. . .हां. . .क्यों नहीं, जरूर आऊंगा. पुलिस में साहित्य प्रेमी मिलते कहां हैं. समय मिलते ही आऊंगा. मेरा आफिस भी दूर नहीं है, कनाट प्लेस में ही है." मैंने कहा.

"अरे, तब तो और बढ़िया है! अच्छा, प्रकाशक से बिल बनवाकर खुद ही दो प्रतियां पहुंचवा दीजिएगा. मैं न भी मिलूं तो लाइब्रेरी के लिए छोड़ जाइएगा. फंड खत्म होने को है, प्रकाशक पर मत छोड़िएगा, जरा आप ही तकलीफ कीजिएगा. अच्छा.. .चलूंगा, दोपहर तक ड्यूटी पर पहुंचना है."

वह चल दिये और मैं पुलिस और साहित्य में संबंध खोजने लगा.

▣

इस बीच मैंने पर्याप्त चिंतन किया—एक खंड काव्य, नाटक अथवा उपन्यास जितना चिंतन. इस चिंतन का निष्कर्ष यह निकला कि वैसे तो पुलिसवालों की न दुश्मनी अच्छी है और न मित्रता. पुलिसवाले किसी के मीत नहीं होते हैं, यह तो अपने सगे के भी सगे नहीं होते हैं. परंतु जैसे नदी में रहकर मगरमच्छ से बैर करना उचित नहीं है, वैसे ही पुलिसवालों से भी. इनकी मित्रता का मोहल्ले पर रौब पड़ता है तथा चोर-लुटेरे मित्र बन जाते हैं. वैसे जिससे मुझे मित्रता करनी थी वह एक साहित्यकार भी था, अब यह दीगर बात है कि वह पुलिसवाला था या साहित्यकार. जीवन में जब विवाह जैसा खतरा मोल ले लिया तो अन्य खतरों से घबराना कैसा—यह सोचकर मैंने साहित्य प्रेमी पुलिसवाले से मित्रता करने की ठान ली और अपनी पुस्तक उस तक पहुंचाने का निर्णय ले लिया.

मैं पुलिस हैडक्वाटर्स पहुंचा. अब तो राजधानी में अनेक ऐसी ऊंची इमारतें बन गयी हैं जिनकी आखिरी मंजिल को देखने के प्रयत्न में टोपी तो क्या, टोपी पहननेवाला ही लुढ़क जाये. गनीमत है कि न तो मैंने टोपी पहनी हुई थी और न ही मैंने आखिरी मंजिल को देखने का प्रयत्न ही किया.

हैडक्वार्टर के द्वार पर पहुंचकर मैं ठिठक गया. एक पुलिसवाला दायें हाथ से, जमीन पर टिकी बंदूक को, सावधान की मुद्रा में पकड़े खड़ा था. मैं, अंदर जाऊं या न जाऊं के आध्यात्मिक द्वंद्व में फंस गया. तभी एक जीप आकर रुकी, उसमें से पुलिस अफसर उतरा. द्वार पर खड़े सिपाही ने पहले बंदूक को कंधे पर लगाया, हथेली मारी, फिर बंदूक की नाल आकाश की ओर करके सामने लाया, हथेली मारी तथा सावधान की मुद्रा में खड़ा हो गया. अफसर ने यंत्र-चालित-सा सैल्यूट मारा और आगे बढ़ गया. सिपाही उलटे क्रम से सावधान की मुद्रा में आ गया. यह पुलिसनुमा 'नमस्ते' थी. इस प्रक्रिया में उस बेचारे की पैंट थोड़ी ढीली हो गयी थी, और कमीज भी पैंट से बाहर निकल आयी थी. उसने साथ खड़े सिपाही को अपनी बंदूक पकड़ायी और बेल्ट खोलकर पैंट ठीक करने लगा. इस बीच एक कार तेजी से आकर रुकी. नमस्ते करनेवाला सिपाही हड़बड़ा गया. उसने झपटकर साथवाले से बंदूक खींची, ढीली पैंट से यंत्रचालित पुलिसनुमा नमस्ते की. मैं सोच रहा था कि कहीं इसकी पैंट खिसक गयी तो. . .? परंतु ऐसा नहीं हुआ. नमस्तेवाले सिपाही ने अफसर के जाते ही बंदूक साथवाले को फिर पकड़ा दी और सहज भाव से पैंट ठीक करने लगा.

अब तक मुझे ज्ञान हो गया था कि यदि मैं द्वार से प्रवेश करूंगा तो द्वारपाल सैल्यूट तो क्या, मेरी ओर देखेगा भी नहीं. मैंने उसकी ओर देखते हुए प्रवेश किया, वह अपनी ढीली पैंट ठीक करने में व्यस्त रहा.

पुलिस-हैडक्वार्टर में भी स्वागत-कक्ष था, परंतु वहां ऐसा स्वागत हुआ कि पुनः स्वागत कराने की इच्छा ही नहीं रही. लगा जैसे रिमांड खींचा जा रहा है. मुझे आध्यात्मिक ज्ञान दिया गया कि मैं ब्रह्मरूप लाइब्रेरियन अथवा साहित्यिक-पुलिसवाले से साक्षात नहीं मिल सकता हूं. उससे पूर्व मुझे साथ लायी हुई पुस्तकों को डायरी कराने के लिए माया रूपी डायरीवाले की बाधा पार करनी होगी. स्वागत कक्ष ने मेरी जनरल नॉलिज बढ़ायी कि साहित्यिक पुलिसवाले की ड्यूटी ईवनिंग-शिफ्ट में है.

मैं डायरी-रूम में पहुंचा. डायरी-रूम में एक सीट खाली थी और दूसरी पर एक सिपाही आंखें बंद किये ध्यान-मग्न था. मैं इस दुविधा में पांच मिनट खड़ा रहा कि इस साधक का

उलाहना

▣ कीर्तिस्वरूप रावत

उस दिन के उसके उलाहने का उत्तर मैं आज तक नहीं खोज पाया.

"जो भी कहा जाये करना पड़ेगा!" हम दोनों में शर्त लगी थी. वह शर्त हार गयी और मैं उससे चाहे सो करवा सकता था.

उसके नेत्रों में कभी दुविधा दीख पड़ी, कभी अविश्वास, कभी घोर आतुरता, तो कभी शरारत.

वायदा तो निभाना ही था. बड़ी मुश्किल से वह बोली, "अच्छा कहिए, मुझे क्या करना होगा?"

"एक गिलास ठंडा पानी पिला दो."

"बस्स!"

एक ठंडी श्वास के साथ दोनों बांहें ढीली कर दीं उसने. फिर बोली, "आप जैसे व्यक्ति से कभी शर्त नहीं लगानी चाहिए." ▣

● समाजशास्त्र विभाग, स. ध. राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर-305901 (राजस्थान)

आसपास बिखरी कहानियां

अपाहिज आदर्श

▣ उर्मि कृष्ण

"बेटा तुमने हमारी लड़की को अपने योग्य समझा हमारा सौभाग्य. तुम्हारी कोई शर्त, कोई मांग?"

"बस, मैं शादी बहुत सादगी से करना चाहता हूं."

"हां हां, बेटा, बस थोड़ा रस्म-रिवाज . . . बस!"

"आप लोगों ने मुझसे सब करवा लिया—घोड़ी, सेहरा, बैंड, बारात, अब यह प्रदर्शित दहेज मैं कतई नहीं ले जाऊंगा. आखिर मेरे भी कोई आदर्श हैं."

"बेटा यह तो हमारी भारी इज्जत का सवाल है. आखिर हम अपनी इकलौती बेटी के लिए पिछले दस वर्षों से कुछ न कुछ बचा रहे हैं."

"नहीं नहीं, मैं कुछ नहीं लूंगा."

"नाराज न हो बेटा. ज्यादा कुछ नहीं, एक ट्रक में सब आ जायेगा. चार सेट सोने के, एक-एक हीरे-मोती के हैं, वे तो अटैची में ही . . ."

"रखिए अपनी लड़की को, मुझे अपने आदर्शों के साथ जीने दीजिए."

"बेटा, इतना गुस्सा न करो, यदि बेटी खाली हाथ गयी तो हम समाज में क्या मुंह दिखायेंगे?"

"ठीक है. . . वैसे अब मैं यह समझ गया कि लोगों के आदर्श जिंदगी में हारते कैसे हैं." □

● 47/2, शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी

ध्यान भंग करूं या नहीं. परंतु जब खड़ा होना असह्य हो गया तो मैंने पुकार लगायी, "भाई साहब, भाई साहब!"

उनका ध्यान भंग नहीं हुआ. मैंने फिर पुकार लगायी, "इंस्पेक्टर साहब, इंस्पेक्टर साहब!" यह सुमधुर ध्वनि सुनते ही उनका ध्यान भंग हो गया. हड़बड़ाकर उन्होंने आंखें खोलीं, बोले, "कोण सै. . .कोण सै. . .म्हारी नींद का दुस्मन?. . .के बात है, क्यों रंभा रह्या था?"

"वो. . .वो इंस्पेक्टर साहब, ये पुस्तकें डायरी करवानी हैं." मैं उनके तेज से प्रभावित, हकला गया था.

"मैं समझया कहीं कत्ल हो गया है. देखता नां है, सीट खाल्ली सै, इब्बे आत्ता होगा." यह कहकर वह फिर ध्यान-मग्न हो गये, मैं प्रतीक्षारत हो गया. बैठने को नंगा फर्श था या डायरीवाले की खाली सीट.

कहते हैं इंतजार में मजा होता है और सब्र का फल मीठा होता है. परंतु एक घंटे की प्रतीक्षा के बाद जो डायरीवाला आया, न वह मजा था और न ही मीठा फल. वह नीम चढ़ा करेला था. उसने सीट पर बैठकर अंगड़ाई ली, बीड़ी पी, 'हर आदमी जल्दी में होता है' कहकर मुझे दो-चार गालियां सुनायीं तथा डायरी ढूंढने में आधे घंटे का सदुपयोग किया. उसे इस बात का गहरा सदमा पहुंचा था कि मैं डायरी कराने के लिए 'खाली' पुस्तकें ही क्यों लाया हूं!

एक सिपाही मेरे साथ, लाइब्रेरियन के पास भेजा गया. पता नहीं वह मेरी सुरक्षा के लिए था या मैं कहीं भाग न जाऊं, इसलिए था. लाइब्रेरियन नहीं मिला, वह छुट्टी पर था. पुलिस के संरक्षण में मैं फिर डायरी-रूम लौटा. "वो. . .वो लाइब्रेरियन नहीं है." मैंने डायरीवाले से कहा. वह कान खुजा रहा था. उसने साथवाली सीट की ओर संकेत करके कहा, "साहब से बात करो." मैं साहब की ओर उन्मुख हुआ. इस समय वह ध्यान में नहीं, किसी फाइल में डूबे हुए थे.

"साहब, लाइब्रेरियन नहीं मिला."

"तो. . .मैं के करूं, मैं बन जाऊं?"

"नहीं. . . ये पुस्तकें कहां रखूं?"

"म्हारे सर पे रख दे. अरे भाई, हाथ दुखते हैं, थामे रख, जब आवे तो दे दीजो. . .समझे?"

"लाइब्रेरियन छुट्टी पर है. . .वह तो कल आयेगा."

"तो भाई कल तक इंतजार कर ले."

"अगर पुस्तकें आप रख लेते तो. . ." मैंने डरते हुए कहा.

"तू हमें और मरवा. कल इधर-उधर हो जायें तो तू हम पे चोरी का दावा ठोक दीजो. घणा समझदार बनता है. और भाई पता नहीं इनमें क्या है? यो बंब-सा अपने पास ही रख!" उसने लगभग डांटते हुए कहा.

"तो इसे मैं घर ले जाता हूं, कल ले आऊंगा."

"अच्छा! घणा समझदार बन रह्या है! क्यूं. . .ये तो डायरी हो चुकीं, ईब तू कल न आया तो इणका जवाब कौन देगा? बैठ जा आराम तै इनै थामकर."

मैं उसके तर्क ज्ञान से घबरा गया था. मैंने कहा, "पर इंस्पेक्टर साहब, लाइब्रेरियन तो कल आयेगा, तब तक क्या यहीं रहूंगा?"

"और नहीं तो क्या लॉक-अप में बंद होवेगा? भाई मेरे, यहीं बैट्ठा रह, कल लाइब्रेरियन आवे तो उस यो किताबें दे दीजो. ईब बिना सौंपे तू बाहर नहीं जा सकता, समझा?"

"पर शाम को तो आपकी छुट्टी हो जायेगी, दफ्तर बंद हो जायेगा, फिर मैं कहां रहूंगा?" मैंने तर्क दिया.

"भाई मेरे, पुलिस चौबीस घंटे की सेवक होती है. तेरी 'सेवा' हम करेंगे. तू चिंता न कर. म्हारे बाद जो डिव्टी पर आवेगा हम अपना चारज सौंपकर जावेंगे. डिव्टी इज डिव्टी."

मैं रुआंसा हो गया. पड़ोसी, समाज अत्याचार करे तो पुलिस को रिपोर्ट कर दें परंतु पुलिस की रिपोर्ट कहां करूं, समझ नहीं आ रहा था. बचाव की कोई सूरत नजर नहीं आ रही थी. तभी कहीं से संकटमोचन साहित्य प्रेमी पुलिसवाले सज्जन आ गये. उन्होंने उद्धार किया और मैं बिना धन्यवाद किये घर की ओर भाग लिया. लगा जैसे दूसरा जन्म मिला हो.

घर लौटकर यह ज्ञान हो गया कि मैं बुद्धू ही था जो शेर की मांद में घुसा. पुलिस और साहित्य के बीच क्या रिश्ता हो सकता है, अब समझ गया हूं. □

● 14 बी, पाकेट-एल, त्रिवेणी, (शेख सराय-II) नयी दिल्ली-110017

पीला पेंट

● आर. एल. स्टीवेंसन

अंग्रेजी फंतासी

किसी गांव में एक 'पेंटर' रहता था, जो लोगों के शरीर पर पीला पेंट चढ़ाता था. उस पेंट की विशेषता यह थी कि जो भी उसे अपने शरीर पर चढ़वा लेता था, वह शारीरिक संकटों, पाप के बंधनों और मृत्यु के भय से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता था. यह दावा पेंटर तो करता ही था, गांव के निवासी भी यही मानते थे. वास्तव में वह पेंट पहन लेने से अधिक आवश्यक वे और कुछ समझते भी नहीं थे.

उसी गांव में एक कुलीन नवयुवक रहता था, जो आवारागर्दी के लिए बदनाम था. हालांकि उसकी गणना बालकों में न होकर युवकों में होने लगी थी, फिर भी उसने वह पेंट अभी तक नहीं पहना था. जब भी कोई पेंट चढ़वाने की बात कहता तो वह झट बोल पड़ता, "कल चढ़वा लूंगा." और अगले दिन वह फिर टाल जाता.

शायद वह मृत्युपर्यंत ऐसा ही करता रहता, किंतु उसी बीच एक दुर्घटना घट गयी. उसी की आयु तथा उसी के विचारोंवाला उसका एक साथी, जो स्वयं उस पेंट से बचा हुआ था, एक दिन गाड़ी के नीचे आकर मर गया. इस घटना से युवक की आत्मा कांप उठी. वह पेंट चढ़वाने के लिए व्याकुल हो उठा और उसी शाम सारे गांववालों की उपस्थिति में उसने अपने शरीर पर वह पेंट पुतवा लिया. बाद में पेंटर ने भी पूरे विश्वास के साथ कहा कि इतना पूर्ण और निर्दोष पेंट उसने इससे पहले किसी को नहीं पहनाया था, किंतु लगभग दो महीने बाद ही वह युवक स्ट्रेचर पर डालकर पेंटर के यहां लाया गया, "इसका क्या मतलब है?" वह अंदर घुसते ही चिल्लाया, "मुझे तो बतलाया गया था कि यह पेंट चढ़वाने के बाद मनुष्य शारीरिक कष्टों से बरी हो जाता है, फिर उस गाड़ी से मेरी टांग कैसे टूट गयी?"

"अरे!" पेंटर ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "यह तो वाकई बड़े अफसोस की बात है, लेकिन लगता है, मुझे अपने पेंट के विषय में थोड़ा स्पष्ट करना पड़ेगा. वास्तव में हड्डी का टूटना—भले ही वह बुरी तरह टूटी हो—एक साधारण घटना ही है. मेरा पेंट इस मामले में कुछ नहीं कर सकता. असल में सबसे अधिक भयानक बात तो पाप है और यह पेंट पाप के विरुद्ध ही चढ़ाया गया है".

"आपका यह तर्क मेरी समझ में नहीं आता, बल्कि बड़ी छिछली-सी बात लगती है." युवक ने उत्तर दिया, "खैर, यदि आप मेरी यह हड्डी फिर से जोड़ दें तो मैं आपका बड़ा आभारी हूंगा."

"हड्डी जोड़ना मेरा काम नहीं है. आप पास के शहर में हड्डियों के डॉक्टर के पास चले जाइए. वह आपकी टांग बड़ी आसानी से ठीक कर देगा." पेंटर ने कहा.

लगभग तीन वर्ष बाद वही युवक दौड़ा हुआ उस पेंटर के पास आया और चीखकर बोला, "यह क्या मजाक है? मैं तो पाप के बंधनों से मुक्त कर दिया गया था, फिर गबन, व्यभिचार और हत्या जैसे पाप मेरे द्वारा कैसे हुए?"

"अरे, यह तो बहुत ही बुरी बात हुई!" पेंटर ने कहा, "अच्छा, जरा अपने कपड़े तो उतारो." तब पेंटर ने अच्छी तरह अपने चढ़ाये हुए पेंट की जांच की. तब पूरे विश्वास के साथ उसने कहा, "आप जरा भी चिंता न करें, पेंट अभी बिल्कुल अखंडित है!"

"मगर पेंट के अखंडित होने का आखिर लाभ क्या है?" युवक चिल्लाया.

"मेरे खयाल से मुझे अपने पेंट के बारे में थोड़ा और स्पष्टीकरण देना होगा. वास्तव में यह पेंट पाप को नहीं रोक सकता, बल्कि उसके भयंकर परिणाम को खत्म करता है, मैंने तुम्हें जिंदगी के खतरों से नहीं, अपितु मृत्यु के भय के विरुद्ध अभय दी है. यदि कभी मृत्यु तुम्हारे करीब आये तो मुझे खबर देना."

"मेरी समझ में यह सब कुछ नहीं आता," युवक ने चीखकर कहा, "बल्कि जबरदस्त निराशा होती है. खैर, यदि आप उन निर-पराध लोगों के उन कष्टों का निवारण कर दें, जो उन्हें मेरे कारण हुए तो मैं आपका सदा आभारी रहूंगा."

"यह मेरा काम नहीं है, पेंटर ने कहा, "हां, अगर आप पास के थाने में चले जायें, तो उनके कष्टों का निवारण स्वतः ही हो जायेगा."

छह सप्ताह के बाद नगर के फांसीघर पर पेंटर को बुलाया गया.

"इसका क्या मतलब है?" युवक ने चीखकर पूछा, "मैं आपका अखंड पेंट पहने हुए हूं—फिर भी मेरी टांग टूटी, सारे संभव पाप मेरे द्वारा हुए और आज फांसी पर चढ़ते समय मेरा दम घुटा जा रहा है. आपने तो मुझे मृत्यु के भय से मुक्त किया था?"

"यह तो वाकई बड़े आश्चर्य की बात है," पेंटर ने हैरानी के स्वर में कहा, "मगर मैं एक बात अवश्य कहूंगा कि यदि आपने यह पेंट न पहना हुआ होता तो आज आपको और भी अधिक डर लगता!" □

● अनुवाद : कैलाश भारद्वाज

चुटकीभर गुलाल रंगकर्मियों पर

यह बनारसी रंग दिल्लीवालों के संग

▣ चंचल

मैं जहां का मूल निवासी हूं, (बनारस) वहां की होली कीचड़ से शुरू होती है. फिर पानीवाले रंग पर आती है. अंत में अबीर और गुलाल शुरू होता है, जो अगली होली तक गाहे-बगाहे चलता रहता है. यहां दिल्ली में पहली होली खेल रहा हूं, वह भी रंगकर्मियों के साथ. मैं नहीं जानता, यह जो कीचड़ उछाल रहा हूं, लोग ढंग से स्वीकार करते हैं या नहीं. अपनी तो आदत, पूरा संस्कार ठेठ बनारसी है. दिल्ली की सभ्यता में जी रहे इन शहरियों पर क्या गुजरेगी, नहीं कह सकता, लेकिन कीचड़ के पहले रंगकर्मियों को एक बनारसी कवि की एक सतर दे रहा हूं—**मन चंगा तो कठौती में गंगा** और इसी सुमिरन के साथ. (हमारे यहां होली में कपड़ा फाड़ने का रिवाज है, वह मैं बचा रहा हूं)

मनोहर सिंह : छोटी काठी कच्चा कान! छेड़ो मत इसकी मुस्कान! बड़े हैं सैयद, फिर भी अधूरे, संध्या छाया पूरे-पूरे. जीभ फिसलती, कभी न गाया, भागो बच्चों 'तुगलक' आया!

मैं मिलता हूं, गले को तो बात ही दूसरी 'डेढ़ इंच ऊपर' से ही मिलता हूं, मनोहर सिंह हाथ ही नहीं रखने देते. मैं बात बढ़ाने के लिहाज से पूछता हूं.

"आप ही मनोहर सिंह हैं?"

"थी हां! मैं ही मनोहल थिग हूं."

मुझे अच्छा लगता है. नाट्यशास्त्र में 'उच्चारण दोष' एक 'टर्म' है. कोई कलाकार उसे जी रहा है; अपनी जिंदगी के हर हिस्से में जी रहा है; मुतवातिर जी रहा है, इससे अच्छी बात क्या होगी. मन नहीं मानता, मैं फिर आगे बढ़ता हूं. (बगैर अपनी सफेद कमीज का खयाल किये हुए) "मुझे कुछ फोटो चाहिए."

"फिर कभी, जब कभी आपको मौका मिले, मैं व्यस्त (?) हूं, मुझे रिहर्सल करना है. मुझे फाइल ठीक करनी है. मुझे लोगों को अनुशासित करना है. कुछ लोग ग्रुपिज्म कर रहे हैं, उन्हें बाहर (नाट्य मंच से या रवींद्र भवन से) निकालना है. मुझे फिल्म की सूटिंग में जाना है. मुझे अपनी सिगरेट खरीदने जाना है. दरअसल हमें. . . मुझे. . .मेरा. . .मुझको. . .मेरी. . .मैंने. . . मैं. . .मैं. . .मैं. . . तुगलक, सैयद, मुख्यमंत्री, आधे अधूरे. . .सैयां भये कोतवाल. . .अंकल वान्या. . .मैं. . . मैं. . .अभी व्यस्त हूं. . ." वो खिसकते जा रहे थे. मैं बढ़ता जा रहा था. मेरे हाथ में, मेरी हथेलियों पर रंग था, पानीवाला रंग, लेकिन घुला हुआ नहीं था, सूखा भी नहीं था, उसमें एक गीलापन था. मैंने चेहरे पर रगड़ दिया. पूरी तस्वीर काली हो गयी, लेकिन नंदनभाई

आइये यह बीवियों का मदरसा है. विवेक

को अपना कौन-सा मुंह दिखाऊंगा, इसलिए एक तस्वीर बना दी. (सबसे क्षमा चाहते हुए.)

मैं वहां से निकल ही रहा था कि मेरी निगाह दाहिने हाथ के बड़े आलमारीनुमा कमरे में पहुंची. कई सामान पड़े थे. खाली मेज, उल्टा गिलास, नीचे खिसकती जा रही खिड़की, कुर्सियों पर टिके लोग. (पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों) मैंने झांका, सहमा और इस्स! (तीसरी कसम) करके दो-चार कदम भागा भी, लेकिन वही हुआ, जिसका उम्र की एक निश्चित दहलीज पर होना स्वाभाविक एवं तार्किक मान लिया गया है. सीना फुलाया, कालर ठीक किया, बालों में खुजली की, दोनों हाथ पाकिट में डाल लिये और 'येन केन प्रकारेण' (गांव का हूं न!) अंदर हुआ. उत्तरा, सुरेखा, डाली, उषा रघुवीर वगैरह-वगैरह से बचते-बचाते एक पुरुषनुमा व्यक्ति के सामने बैठ गया.

आप 'जुनून' वाले राजेश ही हैं न?"

"मैं राजेश दिखाई पड़ता हूं. मैं 'अस्वत्थामा हूं, महाभारत का, हा! हा!! हा!!. . ." (मुंह खुला हुआ था. उसमें से कुछ आवाज आ रही थी. मैं बगलवालों को देख रहा था, बगल वाले मुझे देख रहे थे (थीं), आवाज में कुछ शब्द फिर पकड़ में आ रहे थे.) "मैं कौन हूं?. . .हा!. !! हा!! तुम नहीं जानोगे. मैं जो हूं, वह नहीं हूं, यही मैं हूं. . .." (मैं मिलाने लगा—यह आदमी मेज नहीं है, मेज का पाया नहीं है, कील नहीं है, खपच्ची नहीं है, कुरसी नहीं है, कुरसी का हत्था, अलमारी या खिड़की नहीं है. सामने जो लोग बैठे हैं, वह नहीं है, रघुवीर नहीं है, रघुवीर

का. . . सोचते-सोचते मेरा माथा ठनक गया. सोचना ज्यों ही बंद किया, उधर से आवाज निकलनी शुरू हो गयी, "मैं छोटा सैयद हूं, नजीब हूं, शेख उल इस्लाम, हरिशंकर तिवारी हूं, गैलीलियो हूं. मैं. . .हूं. . .मैं. . .हूं. . ."

"लेकिन आप बनना क्या चाहते हैं?"

"पुराण, इतिहास, आगत, अनागत... व्यास, अशोक, बाबर, गांधी, लोहिया, जेपी, चाणक्य, राजनारायण, मधु-लिमये, जार्ज फर्नांडिस, सब!"

"लालबहादुर शास्त्री?"

"काश! बन पाता! हा! हा! हा!! लेकिन बन जाऊंगा, उस समय, जब लोगों का कालबोध मिट जायेगा. पृथ्वीराज कपूर 'अकबर' हैं. . .किसने देखा है अकबर को, लेकिन पृथ्वीराज कपूर. . .हा! हा! हा!!"

"मैं रंग डाल दूं."

"रंग! वाह! पुराण में, वेद में, महाभारत में क्या बात है! रंग के बारे में जो कुछ भी लिखा है, लिखा जा चुका है, अनंत है!"

रंग डाल देता हूं. सब बदरंग हो जाता है. शिनाख्त के लिए केवल मुह बचा रह जाता है.

भीड़ है. 'चंद्रवदन मृगलोचनी' कहीं नहीं देख पाता. मनोविज्ञान है. आंख जब फिसलने लगे और बार-बार कोशिश करे कि जहां-तहां चिपक जाये, तब उस सौंदर्यबोध को शब्दों के भ्रमजाल से दूर ही रखो और कहीं न कहीं ऊबड़-खाबड़ पर टिका दो. रघुवीर से रंग की तकरार करता हूं. 'रंगला' उछलने लगता है, "नहीं! अब नहीं! ऐसे ही बहुत रंग लग चुका है. पीठ खोलकर दिखाता है. भैंस चराया है, नौटंकी किया है, बगैर टिकट पकड़ा गया हूं, भूखा रहा हूं, अखबार में काम किया है, अब और कौन-सा रंग चाहिए. (मैं ऐसे देखता हूं, जैसे ये रंग मेरे लिए नये हों. दर-असल उन रंगों की चमक ठीक वैसी ही मेरे भी जिस्म पर है, जिसे मैंने कागज से बचा रखा है.) मैं रंग नहीं खेलता. चुपचाप बाहर आ जाता हूं. चौकीदार बताता है कि बाहर प्रदर्शन हो रहा है.

"कौन लोग प्रदर्शन कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं, कब तक करेंगे?"

"बारह गुस्सैल लोग हैं. 'रुका हुआ फैसला' को लेकर कर रहे हैं. तब तक करते रहेंगे, जब तक कि फैसला रुक न जाये!"

होली के ऐन वक्त पर 'गुस्से का दर्शन!' प्रदर्शन का फैसला, बारह गुस्सैल लोग! देश में जनतंत्र बचा रह जायेगा, यह सोचकर मुझे इत्मी-नान होता है. डा. लोहिया की बात याद आ जाती है. इस देश के लोग गुस्सा करना कब सीखेंगे. जालिम वहीं पलते हैं, जहां दब्बू रहते हैं. अन्याय के खिलाफ गुस्सा एक वाजिब तर्क है. पंकज कपूर, के.के. रैना अनिल कपूर, अनीला सिंह, रंजीत कपूर, ये कुछ गुस्सैल लोग हैं. इनका साथ दे रहे हैं एम. के. रैना. एस. एन. जहीर, बिनोद नागपाल, बॉबी वगैरह-वगैरह. इन में से किसका गुस्सा देखा जाये, दर्जा आठ में पढ़ा बीजगणित याद आ गया. अ धन ब होल स्क्वायर बराबर अ वर्ग धन ब वर्ग धन दो अ ब. मतलब, एक कपूर, एक रैना मामला साफ. चोपड़ा कमाल

तुम को मालूम है.... के.के. रैना

(नौकर जमाल) हाथ आ गये पंकज कपूर.

सचमुच कमाल. यह लिजलिजा चरित्र मुख्यमंत्री का सचिव है और 'रुका हुआ फैसला' का गुस्सैल अवस्थी या दोहरे चरित्र का चोपड़ा जमाल, मैं तय नहीं कर पाता, तब तक वह अपना चेहरा श्रीराम सेंटर के धूलभरे टेबुल पर रख देता है और कहता है, "खोज लो, कहां रंग लगाना चाहते हो. जहां सूराख न हो, वहां बेझिझक रंग लगा दो." मैं खोजता हूं. आखिर कौन-सा कमाल है, जो इस आदमी को पंकज कपूर नहीं रहने देता, मंच पर वह सब कुछ बना देता है, जिसे इस व्यक्ति को जीना पड़ता है. न चाहने के बावजूद भी मैं असली मुकाम पर उंगली रख देता हूं. गुस्सा सतह पर उतारने लगता है, "आप जानते हैं, क्यों हटाया गया हूं? गांधी फिल्म (विवादास्पद गांधी फिल्म, जिसके निदेशक हैं रिचर्ड एटनबरो, और जिसे भारत सरकार ने कई करोड़ रुपये अनुदान के रूप में दिये हैं.) में मैं प्यारे लाल की भूमिका में हूं. इन्हीं लोगों ने परमिट किया, फिर वापस किया. मैं क्या करता." मैं चुटकीभर लाल रंग चेहरे पर लगा देता हूं, "क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि उम्र की जिस ढलान पर वे (नाम नहीं लूंगा) खड़े हैं, किसी अच्छे कला-कार को वहां टिकने नहीं देंगे. पंकज छटपटाते हैं. समझ गया, रंग ठीक जगह लगा है. और मैं दूसरे 'ऐंग्रीमैन के.के. रैना' से मिलने चल देता हूं.

के.के. रैना बिल्कुल गुस्सैल नहीं है. आंखें बड़ी करके जब यह आदमी हंसता है (अंदर से) और मुंह खुला

रह जाता है तो लगता है कि बस एक अदा ने दिल्ली की सरकारी संस्कृति (जहां हर आदमी हंसने की कोशिश करता रहता है.) को चुनौती दे डाली है. इतने कम दिनों में इतने नजदीक से छूने का जो मौका मिला, जितनी जल्दी यह आदमी खुला, यकीन करिये, मुझे विश्वास नहीं होता कि यह आदमी इतने लंबे अरसे से दिल्ली में रह रहा है. मैं इनके आखिरी जवाब से अपनी बात की शुरुआत करता हूं.

"दरअसल नाट्य समीक्षकों से मेरी एक शिकायत है, (पुलिस और मुजरिम की नहीं) अधिकार की शिकायत है. बहुत सारे समीक्षक ऐसे हैं, जो क्या लिखते हैं, खुद नहीं जानते. उन्हें चाहिए कि हमारे साथ रहें. हमारे रिहर्सल में बैठें. 'एक्टर्स' की निजी जिंदगी को नजदीक से झांककर देखें कि हम किन परेशानियों से गुजर रहे हैं." (विश्वास करिए, ये सारी बातें मेरे बारे में नहीं हैं, क्योंकि कोई जानता ही नहीं कि मैं समीक्षा भी करता हूं.) बात दरअसल मेरे बारे में कही गयी थी, मैं वहां से भाग लेता हूं. रैना का चेहरा

रघुवीर यादव

मेरी पीठ पर चिपका रह गया था. उसे यहां उतारने की कोशिश कर रहा हूं. मैं थक गया था, जब कृष्ण कुमार रैना ने जबर्दस्त चुटकी काटी थी और बेतरह भागा था. इसी बीच मैं आखिरी चरित्र (मिलने वालों में) एम. के. रैना. (मनोज कुमार रैना, मैजिक कुमार रैना, मन कुमार, मधु कुमार, मैन कुमार, पता नहीं है.) से मिलता हूं. चूंकि एम. के. एक अच्छे (?) (बाद में कभी बताऊंगा) निदेशक, अभिनेता, व्यक्ति के अलावा एक अच्छे दोस्त हैं, चुनांचे इनकी व्यक्तिगत जिंदगी के बारे में न तो जानता हूं और न ही पूछने की हिम्मत जुटा सका. (डर था कि यह मुंहफट आदमी किसी भी समय पूछ लेता कि जब इतने दिन में इतना भी नहीं जान सके तो फिर किस बात पर रिश्ते टिके हुए हैं. **अपना मोरचा** से चलकर **कबीर बाया सतह से उठता आदमी, सत्ताइस डाउन** पता नहीं क्या क्या. फिर भी जो कुछ है, वह कीमती है. शब्दों की खोज कर रहा हूं (मौका मिलते ही दे डालूंगा) रंग लिये खड़ा रह जाता हूं, वह आगे बढ़ जाते हैं. जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ. मैं यह भी नहीं पूछ पाता.

"जिसके पास घर ही न हो?" कल अबीर के साथ मिलूंगा. कीचड़ से, रंग से, जो खुजली हो रही है, उसके लिए मुआफी चाह रहा हूं, बस. □

● ई-46, महाबतखां रोड,
नयी दिल्ली-110002

गपशप

▣ कमल सौगानी

तलाश

एक फरार अपराधी को पकड़ने के लिए उसके पांच तरह के फोटो की प्रतियां जगह-जगह के पुलिस-थानों को भेज दी गयीं. कुछ दिनों बाद एक थानेदार का पत्र हेडक्वार्टर्स को मिला, जिसमें लिखा था :

पांच फरार अपराधियों के जो फोटो आपने भेजे थे, वह मिल गये और उनमें से चार को मैंने गिरफ्तार कर लिया है. पांचवें की तलाश की जा रही है और उसे भी जल्द ही गिरफ्तार कर लिया जायेगा. □

पाकेटमार

एक बार एक पॉकिटमार को एक मोटरवाले ने लिफ्ट दी. जब उसे यह पता चला कि वह पॉकिटमार है तो घबराकर उसने गाड़ी का एक्सीडेंट कर दिया. पुलिसमैन आया और गाड़ी एवं लायसेंस का नंबर ले गया. मोटरवाले ने कहा, "देखा, तुम्हें लिफ्ट देकर मैं कितनी मुसीबत में पड़ गया हूं. अब मुझे कोर्ट में जाना पड़ेगा."

पॉकिटमार ने एक डायरी मोटरवाले को दी और कहा, "कोई जरूरत नहीं जाने की. यह लीजिए वह डायरी, जिस में पुलिस वाले ने आपका लायसेंस और गाड़ी नंबर लिखा है." □

विचारगोष्ठी

'भारत एक है' विषय पर नेता लोगों की विचारगोष्ठी थी. एक मोटे नेता ने अपने विचार सुनाये—'भाइयो, जब मैं कश्मीर गया तो लोग मुझे देखकर हंसते थे. जब मैं पंजाब गया तो वहां भी लोग मुझे देखकर हंसते थे. जब मैं राजस्थान में गया तो वहां भी लोग मुझे देखकर हंसते थे. इससे सिद्ध होता है कि भारत एक है.' □

येक भाषा के साहित्य में हर विधा के साहित्यकारों ने नारी पर नजर अवश्य डाली है. नारी पर नजर दो र से डाली जाती है. एक अच्छी नजर और दूसरी बुरी . अच्छी नजर वाले साहित्य को श्लील साहित्य कहते और बुरी नजर वाले को अश्लील. श्लील साहित्य लिखने लिए लिखा जाता है, जबकि अश्लील साहित्य पढ़ने के . इसीलिए श्लील साहित्य कम लिखा जाता है और ील बहुत ज्यादा. श्लील साहित्य शायद बिल्कुल लिखा जाता, यदि एक मजबूरी न होती. दरअसल, पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी से अपनी लंपटता छिपाना चाहती है. लंपटता छिपाने के लिए थोड़ी-बहुत मात्रा में श्लील साहित्य लिखना अनिवार्य है. श्लील साहित्य सच्चरित्रता का सर्टिफिकेट होता है!

हिंदी के रीतिकालीन साहित्यकारों ने इस 'चरित्र प्रमाणपत्र' की बिल्कुल परवाह नहीं की, इसलिए बेचारों की बड़ी छीछालेदर हुई. मैं तो रीतिकालीन सात्यिकारों की साहित्यिक ईमानदारी पर मुग्ध हूं. उन्होंने पहली बार नारी को महापुरुष की नहीं, मर्द की नजर से देखा, अन्यथा सदा से हम नारी को ऊपर से नैतिकतावादी और नग्नतावादी नजर से देखते आये हैं. रीतियुग के साहित्यकार जानते थे कि नारी पुरुष के लिए एक तराशा हुआ मांसल सत्य है, इसीलिए उन्होंने नारी के एक-एक अंग का बारीकी से निरीक्षण किया और उनकी विशेषताओं से हमें परिचित कराया. वे लोग कितने अभागे थे जो रीतियुग से पूर्व ही पैदा होकर मर गये. वे जान ही नहीं पाये कि नारी के कुचों में भाटे का मजा, होंठों में गाजर का स्वाद और बांहों में मूली की मसृणता विद्यमान है. बैठी हुई नारी लौकी की तरह दिखाई पड़ती है और लेटने पर वह खीरे के आकार में बदल जाती है!... बहरहाल, इस प्रसंग को यहीं समाप्त करना बेहतर होगा, क्योंकि यदि बैठे-ठाले मुझसे भक्तिकाल के स्थान पर रीतिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्ण-युग सिद्ध हो गया तो हमारे परंपरागत नैतिक मूल्य अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए भारी उछल-कूद मचाने लगेंगे!

मैं कह रहा था कि हर विधा के साहित्यकारों ने नारी पर अच्छी या बुरी नजर अवश्य डाली है. रामायण-युग से वर्तमान राशन-युग तक नारी बड़ी शान से साहित्य के सिंहासन पर प्रतिष्ठित है. महाभारत में द्रौपदी, रामायण में सीता, पुराणों में पार्वती, भागवत में राधा, शाकुंतलम् में शकुंतला, कामायनी में श्रद्धा, साकेत में उर्मिला—मतलब यह कि 'बनन में बागन में बगरो बसंत' की तरह नारी हर कहीं बगरी हुई है. गद्य हो, पद्य हो, कथा हो, सत्यकथा हो, कहानी हो, अकहानी हो, सचेतन कहानी हो, अचेतन कहानी हो, अकविता हो, बकविता हो, सकविता हो, एब्सर्ड उपन्यास हो, रैंपसर्ड उपन्यास हो, नाटक हो, कर्नाटक हो, निबंध हो, प्रबंध हो—जो भी लंदफंद हो, नारी यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान. यदि नहीं है तो आधुनिक हिंदी गद्य व्यंग्य में. हिंदी गद्य-व्यंग्य साहित्य ही एकमात्र अपवाद है.

कॉलेज के जमाने में मैंने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक लेख पढ़ा था. शीर्षक था, 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता.' लेख में बताया गया था कि किस प्रकार वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक सभी रामायण-कारों ने लक्ष्मण की सहधर्मिणी उर्मिला के चरित्र की उपेक्षा की थी.

एक खोजपूर्ण

व्यंग्य-रचना

हिन्दी व्यंग्य का ब्रह्मचर्य आश्रम • विनोदशंकर शुक्ल

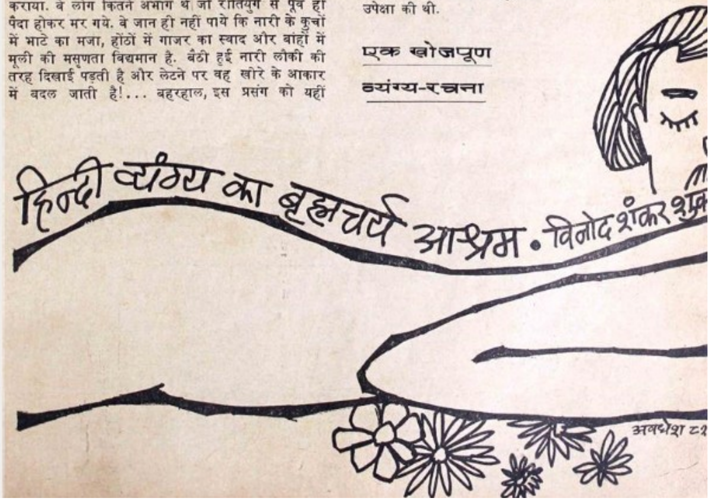

लेखक ने सभी रामायणों को, इस अन्याय के लिए अच्छी तरह आड़े हाथों लिया था. मेरा मन भी उर्मिला के प्रति सहानुभूति से भर उठा था. वाल्मीकि को तो खैर मैंने उसी समय क्षमा कर दिया था, किंतु बाबा तुलसीदास पर मुझे बहुत क्रोध आया था. लगा था, रत्नावली से प्राप्त अपमान का बदला उन्होंने असहाय उर्मिला से लिया है. पुरुष होने के नाते—पुरुषों की इस निर्ममता पर मैं बहुत शर्मिंदा हुआ था. कवि बनने का मेरा कोई इरादा नहीं था किंतु उर्मिला के उद्धार के लिए कविता करना मुझे उस समय सबसे बड़ा कर्त्तव्य जान पड़ा. मैंने अपने महाकाव्य 'उर्मिला-उत्ताप' के अभी तीन सर्ग ही लिखे थे कि पता चला राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' लिखकर कवियों का आचरण सुधार दिया है. मैंने चैन की सांस ली. गुप्तजी ने मुझे कवि होने से बाल-बाल बचा लिया था. निश्चय ही 'साकेत' लिखकर उन्होंने साहित्य पर उतना बड़ा एहसान नहीं किया, जितना मुझे कवि होने से रोककर!

▣

इधर कुछ दिनों से मैं फिर परेशान हूं. वही गलती फिर दोहरायी जा रही है, बल्कि उससे भी कई गुना बड़ी गलती. वाल्मीकि, तुलसी आदि ने तो एक ही नारी की उपेक्षा की थी, हमारे आधुनिक हिंदी गद्य-व्यंग्यकार तो सारी नारी जाति की उपेक्षा पर तुले हैं. आप ही बताइए, नारी के बिना कभी कोई साहित्य लिखा जाता है! लिखा भी जाता है तो क्या उसे कहीं मान्यता मिलती है? साहित्य और नारी का तो शाश्वत संबंध है. साहित्य यदि सब्जी है तो नारी उसे सुस्वादु बनाने वाला नमक है. हमारे देश में वैसे भी साहित्य और सब्जी में कोई फर्क नहीं माना जाता.

आम लोगों को साहित्य की सब्जी तभी पसंद आती है, जब उसमें सेक्स का गरम-मसाला हो. ये सेक्स आता कहां से है? ये नारी के आने पर अपने-आप आ जाता है. साहित्य-शास्त्री इसी गरम-मसाले को शृंगार रस कहते हैं.

संस्कृत-साहित्य इतना रसीला किसलिए है? नारी के कारण. संस्कृत कवियों ने रमणी को ही रस माना. रमणी के कारण ही वहां 'रस-सिद्धांत' बना! दरअसल सभी तरह के रस नारी में विद्यमान हैं. रमणी जब सोलह शृंगार करके सामने आती है और पुरुष को कुछ उल्टी-सीधी हरकतें करने के लिए बाध्य करती है, तब शृंगार-रस जन्म लेता है. पति या नायक जब रात्रि देर से घर लौटता है, तब रमणी कठोर मुद्रा धारणकर उस पर जिस रस की वर्षा करती है, वह वीर-रस होता है. पति या नायक के साथ रमणी यदि किसी अन्य कन्या को विचरण करता देख लेती है तो उसके कार्य-व्यापार रौद्र-रस का रूप धारण कर लेते हैं. चालिस वर्षीया रमणी जब स्वयं को सोलह-वर्षीया सिद्ध करना चाहती है, तब करुण-रस उत्पन्न हो जाता है. रमणी जब आंचल खोंस-कर सास को द्वंद्वयुद्ध के लिए ललकारती है, तब भयानक रस गर्जना करने लगता है. पति-पक्ष के मेहमानों के विदा होने पर रमणी में अचानक जो परिवर्तन आता है, वह शांत-रस कहलाता है. रमणी जब बात-बात में पति को मायके जाने की धमकी देती है और जाती नहीं, तब हास्य-रस खिल-खिलाने लगता है. अपने हाथ से भोजन तैयारकर जब रमणी बड़े प्यार से उसे पति को खाने हेतु बाध्य करती है, तब वात्सल्य-रस मुस्कराने लगता है. पतिव्रता जब चोरी-चोरी प्रेमी को शरीर समर्पित कर देती है, तब बीभत्स-रस अवतरित हो जाता है. मतलब यह कि सारे रस नारी से ही उत्पन्न हुए हैं और नारी में ही बिलीन हो जाते हैं!

क्षमा कीजिए, नारी के नाम पर फिर बहक गया. बात व्यंग्य में नारी के न होने की हो रही थी. मैंने माना, व्यंग्य साहित्य की अपेक्षाकृत नयी बिधा है. किंतु मैं कहता हूं कि हर नयी बिधा को नारी ने ही जमाया है. रहस्यवाद स्थापित हो न हो पाता, यदि उसमें 'मायारूपी' नारी न होती. तब जीव और ब्रह्म निष्कंटक मिलन-यामिनी मनाते और आसानी से एक-दूसरे का रहस्य जान लेने के कारण वे प्रेम-विवाह करने वाले युगलों की तरह रात-दिन झगड़ते रहते. छायावाद का दही तभी जम पाया, जब 'कामायनी' का अवतरण हुआ. इसी प्रकार प्रगतिवाद भी प्रकट नहीं हो पाता, यदि वह (नारी) पत्थर न तोड़ती. (वह तोड़ती पत्थर: निराला) 'बच्चन' के हालावाद से यदि 'साकीबाला' निकाल दें तो खाली प्याला ही बच रहेगा!

हिंदी की हास्य-कविता मंच का मैदान मारने में दिग्विजयी क्यों हुई? इसलिए कि उसने नारी को केंद्र मानकर सैकड़ों नये वाद चलाये. सालीवाद, पत्नीवाद, प्रेमिकावाद, परकीयावाद, काकीवाद, पड़ोसनवाद आदि न जाने कितने-कितने अआयातितवाद! मंच पर सालीवाद घिस जाता है तो हास्य-कविता तत्काल भाभीवाद घसीट लाती है. भाभीवाद बेरंग हुआ तो भैंसवाद हाजिर है. नारी दोपायी हो या चौपायी—श्रोताओं को इससे कुछ लेना-देना नहीं है. उन्हें तो बस नारी चाहिए. हास्यरस की कविता भी नारी संबंधी 'वादों' की दृष्टि से बड़ी उर्वर है. अभी उसकी कोख से चोलीवाद, चुनरीवाद, लहंगावाद, चूड़ीवाद, झुमकावाद आदि कितने ही नवीन वादों का जन्म होना बाकी है!

▣

इधर नारी फिर उपेक्षा का शिकार हुई है, और उपेक्षा कर रहे हैं हिंदी के गद्य-व्यंग्यकार. श्रेष्ठ व्यंग्य-गद्यकार राजनीति के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं. वे मुझे दुःशासन दिखाई पड़ते हैं, दिन-रात राजनीति का चीरहरण करने वाले. नारी के मामले में हिंदी व्यंग्य-लेखक पिछड़े हुए राज्य की तरह हैं. खोजने पर भी उनके नारी संबंधी दृष्टिकोण का पता नहीं चलता. जबकि दूसरी बिधाएं बड़ी संपन्न हैं. एक पंक्ति में उनमें नारी विषयक दृष्टिकोण व्यक्त हो गया है. चाहे वह 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी' वाली निदांजलि हो, या 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' वाली श्रद्धांजलि हो या 'आंचल में दूध आंखों में पानी' वाली करुणांजलि हो या 'बेवफाई तेरा ही नाम औरत है' जैसी सत्यांजलि—सभी में नारी संबंधी दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है. मैंने कई व्यंग्यकारों की नारी-

विषयक दृष्टि को टटोला, परंतु दुःख हुआ देखकर कि नारी जैसी हरित-भूमि को छोड़कर उनकी दृष्टि राजनीति की शुष्क मरुभूमि में भटक रही है.

परीक्षण की प्रक्रिया में पहली नजर मैंने 'व्यंग्य के वल्लाभाचार्य' पंडित हरिशंकर परसाई पर डाली. (पंडित शब्द पर परसाईजी को आपत्ति हो सकती है किंतु पंडित शब्द यहां जातिवाचक न होकर विद्वत्ताबोधक अर्थ में प्रयुक्त है.) परसाईजी ने नारी पर नजर डालने की कई ईमानदार कोशिशें की हैं, किंतु हर बार उनके गुरु आड़े आ जाते हैं. दरअसल, परसाईजी की काया में कबीर का परकाय प्रवेश हो गया है. जब भी वे नारी की ओर नजर डालते हैं, उनकी काया में बैठा कबीर 'वार्निंग बेल' बजाने लगता है —'हरिशंकर, होशियार! नारी वर्जित फल है, खाओगे तो पछताओगे. नारी की झाईं परै, अंधा होत भुजंग!' इस टोका-टाकी का नतीजा यह हुआ कि परसाईजी की नारी में रुचि समाप्त हो गयी. उन्होंने विवाह तक नहीं किया. हिंदी गद्य-व्यंग्य के लिए यह एक बड़ी दुर्घटना है. मेरी मान्यता है कि प्रेयसी का सान्निध्य यदि पुरुष को कवि बनाता है तो तो पत्नी का साथ उसे व्यंग्यकार या आलोचक में बदल देता है. पत्नी पति के अंदर स्थित कवि या कहानीकार की हत्या भले ही कर देती हो, पर उसकी निकटता से व्यंग्यकार निखरता है. परसाईजी विवाहित होते तो बर्नार्ड शॉ से टक्कर ले सकते थे. किंतु अफसोस! कबीर ने सब गड़बड़ कर दिया. इस दुर्घटना के लिए हिंदी-साहित्य कबीर को कभी क्षमा नहीं करेगा!

नारी को छोड़ परसाईजी ने हर विषय पर कलम चलायी है. 'एक लड़की पांच दीवाने' और 'रानी नागफनी' में वे नारी की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं, पर फिर ठिठक जाते हैं. सब कबीर की शरारत है. मैंने कबीर के नारी विरोध का कारण खोज लिया है. किस्सा यह था कि कबीर को माया नामक एक स्त्री से इश्क था. माया वर्षों तक कबीर की सारी कमाई अपने पर खर्च कराती रही. किंतु जब विवाह का अवसर आया तो एक धनवान व्यक्ति की डोली में बैठकर चल दी. इस खुली लूट और दगाबाजी ने कबीर को नारी जाति का विरोधी बना दिया. बतौर प्रमाण, मैं कबीर की ही स्वीकारोक्ति प्रस्तुत करूंगा. वे कहते हैं—'माया महाठगिनी हम जानि.' इस पंक्ति में कबीर ने साफ-साफ अपनी दगाबाज प्रेमिका का नाम लिया है. दुर्भाग्यवश अब तक इस पंक्ति की बहुत गलत व्याख्या की जाती रही है. दोष उन विद्वान अध्यापकों का है जो खामोखाह सीधे-सरल अर्थ को आकाश-पाताल घुमाते हैं और अच्छे-भले रोमांसवादी कवियों को रहस्यवादी बताकर छात्रों की नजरों से गिरा देते हैं. वे अब भी अपनी गलती सुधार लें, तो गनीमत है.

परसाईजी को क्षमा करते हुए मैंने शरद जोशी से अपेक्षा की थी कि वे व्यंग्यकार की नजर से नारी को देखने का शुभ-कार्य संपन्न करेंगे. किंतु जोशीजी ने भी निराश कर दिया. परसाईजी अविवाहित होने के कारण नारी पर प्रामाणिक लेखन नहीं कर सके तो जोशीजी के लिए विवाह ही बाधा बन गया. संभवतः कोई शक्ति है जो जोशीजी को विवाह की आचार-संहिता का कट्टरता से पालन करने के लिए बाध्य करती है. परिणाम यह हुआ है कि वे चाहकर भी नारी पर नजर नहीं डाल पा रहे हैं. अपने विवाह-पूर्व अतीत (भूत-पूर्व प्रेमिकाओं को पत्र) पर नजर डालकर वे सूफियाना अंदाज अपना लेते हैं. इस अदा पर कुर्बान होते हुए मेरी इच्छा होती है कि मैं उन्हें 'संत शरद जोशी' कहकर पुकारूं. खैर! जो व्यंग्यकार विवशतावश नारियों पर नजर नहीं डाल पाते, वे राजनीति और राजनीतिज्ञों को छोड़ने लगते हैं. राजनीति को ही वे नारी समझ लेते हैं!

अपने प्रदेश के व्यंग्यकारों को प्राथमिकता देने के प्राथमिक कर्त्तव्य की पूर्ति के बाद मैंने अन्य प्रांतों के व्यंग्यकारों पर नजर डाली. मेरी दृष्टि के फोकस में सबसे पहले रवींद्रनाथ त्यागी आ खड़े हुए. त्यागीजी हिंदी के एकमात्र रोमांटिक व्यंग्यकार हैं. जैसे निराला पौरुष के कवि हैं और पंत प्रकृति के, वैसे ही त्यागी रोमांस के व्यंग्यकार हैं. परसाई व्यंग्य में जहां आक्रामकता (हिंसा) की लाली है और जोशी

● लघुकथा

क्योंकि...?

▣ ओमप्रकाश सक्सेना

'अ' एक जानवरों का व्यापारी है. उसकी बकरी ने एक बच्चा दिया है. वह खुश है. क्योंकि...?

'ब' एक(?) है. उसके घर एक लड़का पैदा हुआ है. वह खुश है. क्योंकि...?

'अ' अपनी बकरी के बच्चे की दिन-रात सेवा करता है. अच्छा दाना खिलाता है. क्योंकि...?

'ब' अपने लड़के को खिलाता-पिलाता, पढ़ाता-लिखाता व प्यार करता है. क्योंकि...?

बकरी का बच्चा अब बड़ा व तंदरुस्त हो गया है. 'अ' खुश है. क्योंकि...?

लड़के ने एम. बी. बी. एस. कर लिया है. 'ब' खुश है. क्योंकि ...?

'अ' बाजार में सीना फुलाकर खड़ा है और उस बकरे की (जो कभी बच्चा था) बारह सौ रुपये कीमत मांग रहा है. क्योंकि...?

'ब' अपने डॉक्टर लड़के की शादी के लिए लड़कीवालों से साठ हजार दहेज मांग रहा है. क्योंकि...?

(नीलामी पूरे शबाब पर है).

बकरी का बच्चा, जो अब अच्छा-खासा बकरा है, सब कुछ देख रहा है, मगर चुप है. क्योंकि...?

लड़का जो अब डॉक्टर है, सब कुछ देख रहा है, मगर चुप है. क्योंकि...?

वह एक निरीह पशु है.

वह एक निरीह (?) है. □

● 50, राजकीय आवास, रामलीला मैदान, उन्नाव

● आसपास बिखरी कहानियां

पढ़ा-लिखा के का होई !

▣ भगवती प्रशाद द्विवेदी

बहुत दिनों के बाद मैं महानगर की भागमभाग से छुट्टी पाकर कुछ दिनों के लिए गांव गया हुआ था. एक दिन अचानक ही बहोरन चमार से मुलाकात हो गयी. वह अपने द्वार पर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था.

दुआ-सलाम के बाद मैंने पूछा, "कैसे हो बहोरन?"

"सब रउआं लोगन के दुआ बा मालिक!"

तभी मेरी नजरें एकाएक उसके बारह बरस के बेटे पर जा टिकीं. वह भैंस के नांद में सानी गोत रहा था. मैंने छूटते ही सवाल किया, "बहोरन, अपने बेटे को पढ़ने की खातिर स्कूल नहीं भेजते हो क्या?"

"ना सरकार!" वह फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा.

"मगर क्यों?" मेरे आश्चर्य की सीमा न रही.

वह विद्रूप हंसी हंसकर बोला, "मलिकार! पढ़ा-लिखा के का होई? महंथ बाबा के लरिकन के नइखीं देखत? सब खेत-बारी ध के, गहना-गुरिया बेचि के बचारू दूनो लरिकन के पढ़वलन-लिखवलन, बाकिर आजु जब पढ़ि-लिखि के कमाए-धमाए लागल लो त आपन-आपन जोरू-जांता लेके शहर में बसि गइल लोग. बाप-महतारी से अब कवनो मतलबे ना रहि गइल. रउएं सोचीं, पढ़ा-लिखा के बेचारू का पवले? दूनो परानी भूखे त मुअत बाड़न. एहसे त बेहतर बा कि लरिका के अनपढ़ राखीं. गांवें रहिके बाप-महतारी के सेवा त करी." मैं बहोरन के चेहरे की तरफ टुकुर-टुकुर ताके जा रहा था. □

● कार्यालय जिला प्रबंधक टेलिफोन, निर्देशिका अनुभाग, पटना-1

जी में चिड़चिड़ाहट की गाढ़ी नीलिमा, वहीं त्यागी का व्यंग्य किशोरियों के हृदय को गुदगुदाने वाला 'गुलाबीपन' लिये हुए है. वे फूल और कलि दोनों के रसिया हैं. उन्होंने अपने एक संग्रह की भूमिका में लिखा है: 'पलाश के दहकते हुए फूल और सुंदर कम उम्र लड़कियों के होंठ मुझे भयानक परेशानियों में भी अपनी ओर आकृष्ट करते रहे.' आप मुझसे सहमत होंगे कि आधुनिक व्यंग्यकारों में नारी पर नजर डालने में त्यागीजी से सक्षम अधिकारी दूसरा नहीं हो सकता. जब मैंने त्यागीजी का 'पांच लड़कियों की कथा' व्यंग्य शीर्षक देखा तो खुश हो गया. मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि मैथिलीशरण गुप्त की तरह इस बार उसने रवींद्रनाथ त्यागी को फरिश्ता बनाकर भेज दिया. एक ने मुझे कवि होने से बचाया लिया था तो दूसरे ने व्यंग्यकार होने से उबार लिया. व्यंग्य के साथ ही यह बात उसे पढ़नेवालों के लिए भी बहुत सुखद होती, किंतु दुर्भाग्य! शीर्षक की सीढ़ी से जैसे-जैसे मैं नीचे उतरता गया, मेरा दिल क्रमशः बैठता गया. व्यंग्य का लेबल ही लड़कियों का था, बाकी चरित्र-चित्रण उनके पतियों का किया गया था. यह साफ साहित्यिक ठगी थी! लेबल कुछ और माल कुछ!

परंतु मैं त्यागीजी से जल्दी निराश नहीं हुआ. धैर्यपूर्वक उनका 'संस्कृत सहित्य में नारी' शीर्षक शोध प्रबंध पढ़ गया. नारी पर किसी व्यंग्यकार द्वारा डाली गयी यह पहली शोधपूर्ण दृष्टि थी. पर नहीं, यहां भी त्यागीजी चरका दे गये. प्रबंध में संस्कृतकालीन नारियों पर तत्कालीन कवियों की असंस्कृत दृष्टि का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया था. त्यागीजी से मेरी अपेक्षा पूरी नहीं हुई. रोमांटिक व्यंग्यकार होते हुए भी वे नारियों पर पूर्ण दृष्टि के स्थान पर 'तांक-झांक' के स्तर की ही नजर डालते रहे, यह दुर्भाग्य की बात है.

ऐसा ही धोखा श्रीलाल शुक्ल से भी हुआ. 'आह! वे दिन'—शीर्षक देखते ही मुझे खत का मजमून लिफाफा देखकर ही भांपने की खुशफहमी हो गयी. पर पहाड़ खोदा तो चुहिया निकली. व्यंग्य में एक रिटायर बूढ़े की दरबारी हरकतों का जिक्र था.

व्यंग्यकार बाबू के.पी. सक्सेना ने जरूर मुझे राहत पहुंचायी. समूचे हिंदी व्यंग्य गद्य-साहित्य में नारी नाम की चीज मुझे कहीं मिली तो उनकी रचनाओं में. किंतु हिंदी व्यंग्य के दुर्भाग्य से वे इतने शरीफ आदमी निकले कि घर की लक्ष्मण-रेखा तक नहीं लांघ सके. उनकी सारी रचनाएं उनकी ही घरवाली से शुरू होती हैं और उन्हीं पर खत्म! सक्सेनाजी ने नारी संबंधी दृष्टि अवश्य दी है, पर वह 'वन वे ट्रैफिक' की तरह एकांगी है.

मैंने नरेंद्र कोहली, लक्ष्मीकांत वैष्णव, लतीफ घोंघी, अशोक शुक्ल, प्रेम जनमेजय, ज्ञान चतुर्वेदी आदि को भी टटोला, पर इनकी नजर भी ऐसी न थी, जो नारी संबंधी व्यंग्यकारों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती.

मेरी इच्छा होती है कि मैं हिंदी के व्यंग्यकारों से पूछूं—हे व्यंग्यकार भाई! क्या व्यंग्य, साहित्य का ब्रह्मचर्याश्रम है, जहां नारी का प्रवेश निषेध है? अपने आसपास के माहौल को देख, नारी के बिना किसको सुगति मिली है? धंधा चाहे साहित्य का हो या सैंडिल का—बिन नारी सब सून है. जिनके बाल सफेद हो चुके हैं और जिनकी मृत्यु का वारंट निकल चुका है, उन श्रेष्ठ कथाकारों की कृतियों में झांक, कविता के कक्ष पर दृष्टिपात कर—सभी में तुझे नारी नजर आयेगी, नारी ऊपर उठने के लिए, उठकर छा जाने के लिए, छाकर क्षितिज पा जाने के लिए सर्वश्रेष्ठ शॉर्टकट है. तू भी यही मार्ग अपना. राजनीति की अंधी गलियों में मत भटक. नारी रूपी शाश्वत आकर्षण का राजमार्ग पकड़. इससे तेरा भी भला होगा और तेरी विधा का भी. आमीन. □

● हिंदी विभाग, सी.जे. रात्रि महाविद्यालय, रायपुर, म.प्र.

परिभाषाएं

हिंदी की आखिरी किताब

▣ यशवंत कोठारी

अर्सा पहले 'सारिका' में हमने पाकिस्तान के मशहूर व्यंग्यकार स्वर्गीय इब्ने इंशा की बहुचर्चित कृति 'उर्दू की आखिरी किताब' के अनेक बेहतरीन अंश प्रकाशित किये थे. तब हमें क्या पता था कि जयपुर में बैठा हमारा हिंदी का एक व्यंग्यकार 'हिंदी की आखिरी किताब' लिख रहा है. बहरहाल उसके परिभाषावाले खंड का नमूना प्रस्तुत है, साथ ही अगले पृष्ठ पर पढ़िए—इब्ने इंशा का लघुव्यंग्य—कुछ अनावश्यक घोषणाएं

अभिनंदन : किसी लेखक की लेखन क्रिया बंद कराने हेतु सबसे उपयुक्त हथियार. आजकल हर बड़े शहर में अभिनंदन करने हेतु दूकानें खुली हैं. कई बड़े शहरों में एक साथ अभिनंदन कराने पर एक छोटे कस्बे में अभिनंदन मुफ्त किया जाता है.

आलोचक : वह असफल लेखक, जो किसी भी लेखक को सफल होते नहीं देखना चाहता.

कवि सम्मेलन : हास्यास्पद रस का ऐसा वृहत् आयोजन, जो क्रिकेट के खेल को भी मात करता है.

कहानी : वह रचना, जो प्रेमचंद के बाद लिखी ही नहीं गयी बतलायी जाती है.

पुरस्कार : जो मुझे मिलना चाहिए था, और दूसरों को मिल गया, वही पुरस्कार है.

भूमिका-लेखन : एक ऐसा रोजगार है, जो आजकल किराणे की दूकान की तरह प्रचलित है.

मौलिक : चोरी का लेखन, जो पकड़ा नहीं जा सकता है, उसे ही मौलिक लेखन कहते हैं, ऐसा हमारे शास्त्रों में लिखा है.

रद्दीवाला : जो लेखन से अनभिज्ञ लेखक और प्रकाशक के बल पर लखपती बनता है.

शोध : जिसे बिना किये ही पांच सौ पन्नों की पुस्तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की मदद से प्रकाशित की जाती है.

घृणा : वह प्रक्रिया, जो लेखक-लेखक से करता है. प्रसन्नता की बात केवल इतनी है कि घृणा का फल मीठा होता है, जिसे अक्सर संपादक चखते हैं.

नयी कविता : जो न तो नयी हो और न ही कविता हो, सिर्फ पुराने जूतों की तरह फटी दिखाई देती हो.

प्रकाशक : वह जंतु, जो लेखक के फटे जूतों को बुरी तरह फाड़कर उसके हाथ में दे देता है. वैसे अक्सर प्रकाशक सब्जबागों के बादशाह माने जाते हैं.

पांडुलिपि : जिसे प्रकाशक लौटाते रहें और लेखक बगल में दबाये दिल्ली में दरियागंज के चक्कर काटता रहे, उसे सामान्य जन पांडुलिपि के नाम से जानते हैं. अक्सर पांडुलिपियां घर पर सिगड़ी जलाने के काम आती हैं. ऐसा रचनात्मक प्रयोग विदेशों में अभी शुरू नहीं हुआ है, वे हमसे अभी भी बहुत कुछ सीख सकते हैं.

पारिश्रमिक : मृग-मरीचिका, रेगिस्तान के अलावा भी काफी मात्रा में पायी जाती है और जिसे प्रकाशक व संपादक पुरस्कार कहते हैं और लेखक मजदूरी कहता है.

संपादक : वह शख्स, जो सखेद साभिवादन कई बार अपनी पत्नी तक को लौटा देने संबंधी चुटकुलों का नायक माना जाता है. सामान्यतया सभी संपादक भूतपूर्व लेखक होते हैं और कई तो अभूतपूर्व होते हैं.

साहित्य : जो पढ़ा नहीं जाये, वो साहित्य है और जो पढ़कर समझ में नहीं आये, वह सत्साहित्य है.

सम्मतियां : पुस्तक का ऐसा अचूक विज्ञापन, जो चूरण की गोलियों को भी मात करता है.

साहित्यिक समाजवाद : वह चीज, जो चौराहे से चल चुकी है और अब मेरे घर में पहुंचने ही वाली है, साहित्यिक समाजवाद है.

▣

हिंदी साहित्य की यह आखिरी किताब मैंने अपने दुरुस्त होशो-हवास के साथ लिख दी, सो सनद रहे और वक्त जरूरत काम आवे. □

● 18 शिवार कंपाउंड, आमेर रोड, —जयपुर-302002 (राजस्थान)

कुछ अनावश्यक घोषणाएं

▣ इब्ने इंशा

महानगर बस मालिक एसोसियेयशन बड़े गर्व और उल्लास से घोषणा करती है कि आज से नगर में सभी बसों के किराये दुगने कर दिये गये हैं. आशा है, देशभक्त क्षेत्रों में इस निर्णय का सामान्य रूप से स्वागत किया जायेगा, क्योंकि इससे बस-मालिकों की आय पर ही नहीं, यात्रियों के जीवन-स्तर पर भी बड़ा सुखदायक प्रभाव पड़ेगा.

एसोसियेशन किरायों में वृद्धि के अतिरिक्त यात्रियों के लिए कुछ अन्य सुविधाओं की भी घोषणा करती है, उदाहरणार्थ, प्रत्येक बस में जहां केवल चालीस सवारियों की गुंजाइश होती थी, अब उससे तीन गुना यात्रियों को जगह दी जाया करेगी. इस उद्देश्य से प्रत्येक बस की छत में कुंडों और तसमों की वृद्धि कर दी गयी है और सीटें निकाल दी गयी हैं, जो खामख्वाह खड़े होने वालों के घुटनों से टकराती थीं.

जनता की और सुविधा के लिए प्रत्येक बस की छत पर, पायदानों पर, मडगार्डों पर, इंजन पर, यहां तक कि साइलेंसरों तक पर यात्रियों के बैठने और खड़े होने की गुंजाइश निकाली गयी है. इन विशिष्ट जगहों का किराया भी कुछ अधिक नहीं होगा. टिकट की दर वही रहेगी, जो अंदर बैठने अर्थात खड़े होने और लटकनेवाले यात्रियों से वसूल की जायेगी. भविष्य में सब यात्रियों के अधिकार भी समान होंगे अर्थात प्रत्येक यात्री को बस को धक्का लगाने का एक समान अधिकार होगा, यहां तक कि आधा टिकट लेने वाले बच्चों और बिना टिकट यात्रा करने वाले विकलांगों को भी. बसों में अनाथालयों के लिए चंदा इकट्ठा करनेवालों और खट्टी-मीठी गोलियां बेचनेवालों को भी यह अधिकार देने पर इस मीटिंग में विचार किया जा रहा है, जो महानगर के परिवहन की समस्या को हल करने के लिए कमिश्नर साहब के कार्यालय में अगले सप्ताह हो रही है.

जनता नगर और महेश नगर के वासियों को यह शुभ समाचार ज्ञात हो कि शुक्रवार को उनके घरों का पानी बंद रहा करेगा. यह सुविधा प्रतिदिन तेइस घंटे पानी बंद रहने की सुविधा के अलावा है. कई मजबूरियों के कारण फिलहाल सप्ताह में दो दिन से अधिक पानी पूर्ण रूप से बंद रखना संभव नहीं. नागे के दिनों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ायी जायेगी. आशा की जाती है कि जून महीने के आगमन तक हम सप्ताह में सातों दिन पानी बंद रखने में सफल हो जायेंगे.

नेहरू पार्क व जनता नगर पार्क में सफल प्रयोग के बाद नगर के अन्य पार्कों में पानी भी बंद किया जा रहा है, ताकि जमीन भुरभुरी हो जाये और कुत्ते आसानी से उस में लोट लगा सकें. □

● प्रस्तुति : सुरजीत

बेचारा लेखक : दो प्रसंग

अंधविश्वास

▣ नरेंद्र उनियाल 'ननु'

एक अप्रकाशित लेखक ने सोचा कि अगर अंधविश्वास पर एक लेख लिखा जाये तो संभव है कि प्रकाशित होने का मौका मिल जाये. उसने अंधविश्वास पर लिखना शुरू किया. तीर्थों का मखौल उड़ाया, मरने के बाद होनेवाले पितृकर्मों को अपने तर्कों से ढोंग ठहराया. पंडितों के पाखंड की धज्जियां बिखर दीं. आखिरकार लेख पूरा हुआ. लेखक ने उसे लिफाफे में रखा, भगवान का नाम लेकर उस पर पत्रिका का पता लिखा और डाकखाने की तरफ चल दिया. घर से थोड़ी दूर जाने पर बिल्ली रास्ता काट गयी. लेखक की त्योरियां बिल्ली पर चढ़ गयीं,

"सब अशुभ लक्षण हैं!" लेखक बड़बड़ाया और घर लौट गया. □

लिफाफा

▣ सतीशचंद्र टंडन

उप-संपादक ने लिफाफा खोला. लिफाफे के भीतर रचना के साथ वापसी के लिए भेजा गया लिफाफा फट गया. प्रधान ने उसको फटकारा, "आपको लिफाफा खोलने तक की तमीज नहीं. आइंदा ध्यान रखा कीजिए."

प्रधान संपादक ने लिफाफा खोला. लिफाफे के भीतर रचना के साथ वापसी के लिए भेजा गया लिफाफा फट गया. अब उसने प्रधान की ओर देखा. प्रधान ने उससे कहा, "अजीब लेखक है, लिफाफा चिपकाने तक की तमीज नहीं है. रचना लौटा दीजिए." □

प्रेम प्रकाश ने मुझसे कहा कि उसने चोपड़ा से सुना कि छाबड़ा उसे बता रहा था कि गौतम बनर्जी ने उसे बताया है कि खान साहब कह रहे थे कि सतीश भाटिया ने उन्हें यह बताया है कि हमारे कालेज के स्टाफ में चार लोगों को वी. डी. यानी गुप्त रोग है और पांचवें में लक्षण नजर आ रहे हैं. प्रेम प्रकाश बड़ा हजरत है जैसे कि हिंदी के अन्य प्राध्यापक प्रायः होते हैं, थोड़ा-बहुत लिख लेते हैं, समीक्षा आदि कर लेते हैं तो जीनियस हो जाते हैं. मैं उसकी बात मानने में देर नहीं करता, क्योंकि मैं भी हिंदी का प्राध्यापक हूं, थोड़ा-बहुत लिख लेता हूं, समीक्षा आदि कर लेता हूं और अपने को जीनियस भी समझता हूं. प्रेम मुझसे ज्यादा लिखता है, ज्यादा समीक्षा करता है, ज्यादा जीनियस है और इस वर्ष टीचर इंचार्ज भी है. अतः इस वर्ष तो मैं उसकी बात प्रामाणिक ही मानूंगा. मैंने उससे कहा, "प्रेम प्रकाश, तुम कह रहे हो तो ठीक है. परंतु यह वी. डी. तो बहुत खराब रोग होता है न! . . .यह तो छूत का रोग है, इससे बचना चाहिए. जिन्हें वी. डी. हो उनसे तो दूर रहना होगा. हमें यह पता करना चाहिए कि वे चार लोग कौन हैं, जिन्हें यह रोग है और पांचवां कौन है जिसमें लक्षण नजर आ रहे हैं."

प्रेम प्रकाश मुझसे भी अधिक चिंतित था. उसे भय था कि कहीं उसे यह रोग हो गया तो उसकी पत्नी क्या सोचेगी? अरोड़ा साहब को यह रोग हो गया था तो दो वर्ष तक पति-पत्नी की स्थिति तलाक शुदा-सी रही थी.

▣ हरीश नवल

साढ़े चार गुप्तरोगी-तीन दिन की गुप्तचरी

मेरी अपनी चिंता यह थी कि मुझे अपने साढ़े चार (चार को पूर्ण वी. डी. एक के लक्षण—साढ़े चार) साथियों के सौजन्य से यदि यह रोग हो गया तो मैं इलाज के लिए दीर्घकालीन छुट्टियां भी नहीं ले सकता. दीर्घकालीन छुट्टियां तो पी-एच. डी. के शोध-प्रबंध को लिखने के लिए मिलती हैं, सो मैं तीन साल लेकर डॉक्टर तो बन चुका, प्रेम तो फिर भी छुट्टियां ले सकता है. जब मैं स्टडी लीव ले रहा था तो साढ़े तीन वर्ष पूर्व उसने मुझसे कहा भी था कि परमानेंट नौकरी मिली हुई है, पी-एच. डी. करना अनिवार्य नहीं है, जब छुट्टियों की बेहद जरूरत पड़ेगी तो ले लेंगे. उसने तब यह भी कहा था कि उसका भाई अमरीका की एक बहुत बड़ी बर्तनों की कंपनी में मैनेजर है. वह हमें अपने खर्चे पर अमरीका बुलवाकर कंपनी में ही पार्ट-टाईम नौकरी दिला देगा. तीन वर्ष स्टडी लीव लेकर एक साल में लगकर शोध-प्रबंध पूर्ण करके हम दोनों यदि दो वर्ष अमरीका में बर्तनों की कंपनी में काम करेंगे तो बहुत पैसा भी कमा लेंगे और हमारी रसोई भी सज जायेगी. परंतु हाय! . . .मैं तो कुल्हाड़ी मारकर पैर काट चुका, प्रेम को यदि यह रोग लग भी गया तो वह तो अमरीका भी हो आयेगा, (वहां इलाज भी अच्छा होता है), पैसे भी कमा लेगा, पी-एच. डी. भी कर लेगा और वापस भारत लौटकर हमें इंम्पोर्टिड बर्तनों में खाना भी खिला देगा. पर तब तक मैं स्वस्थ नहीं हुआ तो वह घर भी नहीं बुलायेगा.

हम दोनों ने चिंता में एक क्लास मिस कर दी. दूसरी क्लास समाप्त हुई तो चोपड़ा और छाबड़ा भी स्टाफ-रूम में आकर हमारे साथ बैठ गये. वे दोनों भी परेशान-से थे. कलमसिंह से उन्होंने बड़े विनीत स्वर में पानी मांगा. स्टाफ चपरासी उनकी बदली मुद्रा देखकर चकित था. पानी पीकर हम लोग इस समस्या को सुलझाने के चक्कर में पड़ गये कि वे पांच लोग कौन हैं, जिनसे बचना चाहिए. चोपड़ा ने दुनिया देखी और अनेकों को दिखाई हुई थी (हमारा कालेज एक नया कालेज है अतः स्टाफ में प्रायः सभी प्राध्यापक युवा हैं, कम अनुभवी हैं, ऐसे में चोपड़ा को 'गुरु' पदवी प्राप्त है. उसने बताया कि हमें यह देखना चाहिए कि कौन लोग बुझे-बुझे-से रहते हैं, कृत्रिम हंसी हंसते हैं, औरों से अलग-थलग बैठते हैं और खाने में परहेज करते हैं. छाबड़ा का मत था कि पीले पड़े हुए चेहरे, मरी-सी चालवाले, खूब

“ वह रहस्य मुझे प्रेम प्रकाश ने बताया था, प्रेम को चोपड़ा ने, चोपड़ा को छाबड़ा, छाबड़ा को गौतम, गौतम को खान, खान को सतीश और अंततः सतीश ने रहस्य का भेद खोलते हुए बताया, “भई, बात यह है कि. . .!”—जरा पढ़िए कि कैसे और क्यों बन जाता है राह चलते प्रायः बात का बतंगड़! . . . ”

अधिक कपड़े पहननेवाले ही इस भयंकर रोग से ग्रस्त होंगे.

हम चारों ने तय किया कि गुप्त रोगों से बचने के लिए गुप्तचरी की जाये और गुप्तरोगियों को पहचाना जाये. सो हमने फैसला किया कि स्टाफ-रूम में बैठकर सभी पर नजर रखी जाये. तय हुआ कि हम चारों में से कोई एक सदैव स्टाफ-रूम में रहेगा और दो दिन के भीतर हम सब अपनी-अपनी रिपोर्ट पेश करेंगे.

▣

मैं स्टाफ रूम के एक कोने में बैठा हुआ इसी मिशन में व्यस्त था कि गौतम बनर्जी और खान साहब दबे पांव स्टाफ-रूम में आये और चोरों की भांति दूसरे कोने में बैठ गये. मैं दबी नजर से उनकी क्रियाएं नोट कर रहा था कि अचानक लगा, वे दोनों मेरी क्रियाएं नोट कर रहे हैं, वे भी समझ गये कि मैं उनकी क्रियाएं नोट कर रहा हूं. साधारणीकरण हुआ और मैं उठकर उनके पास चला गया. हम तीनों समझ गये कि हम 'वे' नहीं हैं. खान साहब ने, जो हाल ही में जांबिया में कॉमर्स पढ़ाकर लौटे थे, बताया कि उनका सबसे अधिक संदेह डॉ. प्रदीप पर है. डॉ. प्रदीप भी कॉमर्स के ही प्राध्यापक हैं. खान साहब ने अपने संदेह का कारण यह बताया कि प्रदीप जब नया-नया कालेज में आया था तो खान साहब से उसकी बड़ी गहरी दोस्ती हो गयी थी. वह हर दूसरे-तीसरे दिन उन्हें वेश्यालयों के किस्से सुनाता था. उसका मन पढ़ाने में कम लगता था और ऐसी कहानियां सुनाने में अधिक. उसने अपने कुछ दोस्तों के अनुभव सुने थे, वही सुनाया करता था. ये अनुभव, दिल्ली, मेरठ, बनारस और बंबई के थे. प्रदीप के दो मित्र सेल्ज रिप्रेजेंटेटिव थे, जिनके ये अनुभव थे. अब खान साहब का संदेह यह था कि ये सारे अनुभव डॉ. प्रदीप के ही होंगे और दूसरों के नाम से सुनाता होगा. अब वह ऐसे किस्से नहीं सुनाता था, कहता था कि उसकी दोस्ती 'उनसे' कम हो गयी है. उस दिन डॉ. प्रदीप का 'आफ-डे' था, वह आया नहीं था. गौतम बनर्जी की ड्यूटी लगा दी गयी कि वह प्रदीप को 'चैक' करे, क्योंकि वह उसके घर के पास ही रहता है. इस पर गौतम बनर्जी ने बताया कि अब से प्रदीप उसके घर के पास नहीं रहेगा. हमने पूछा, “क्यों ?” उसने जवाब दिया, “क्योंकि मैं अब घर बदल लूंगा. मेरी अभी शादी भी नहीं हुई है, मैंने जीवन का सुख अभी लिया ही नहीं है. मैं प्रदीप के घर के पास तक नहीं रहूंगा.”

जब हमने उसे आश्वस्त कर दिया कि भई अभी तो यह संदेह ही है, प्रामाणिक तो नहीं है, तो बनर्जी मान गया.

उसी दिन आखिरी क्लास लेने के बाद जब मैं स्टाफ-रूम में लौटकर कल्मसिंह द्वारा बनायी चाय पी रहा था तो भगवती बाबू पधारे. भगवती बाबू जनवादी कार्यकर्ता हैं. थोड़ी दाढ़ी, घिसे जूते, दाएं कंधे पर एक झोला और हाथ में रसीद बुक उनकी निशानी है. उन्होंने सदा की भांति पांच रुपये की एक रसीद काटी और मेरी ओर पेश करते हुए कहा, “पांच रुपये निकाल, कर्मचारी आंदोलन को तेज करना है.” उन्हें क्या पता था कि मेरे मन में क्या आंदोलन चल रहा है. उनके दोबारा कहने पर भी जब मैंने सुनी-अनसुनी करी तो वे बिगड़ उठे और कार्यकर्ता से नेता बन गये. वह भाषण देने ही वाले थे कि मैंने उन्हें स्टाफ पर आये संकट से अवगत कराया. उनके हाथ से रसीद बुक ही छूट गयी, वे अब कार्यकर्ता भी न रहे. दो मास पूर्व ही उनका विवाह हुआ था. बोले, “बहुत अच्छा है कि पत्नी मायके गयी हुई है, मैं पत्र लिख दूंगा कि जब तक वहां रहना चाहो, उससे दोगुनी देर तक रहो, आंदोलन तेज हो रहा है.” वे कार्यकर्ता बन गये, रसीद बुक धरती से उठाकर उन्होंने झोले में डाल ली. मेरे नाम की पांच रुपये की रसीद उन्होंने जीवन में पहली बार बिना पैसे लिये मेरे रजिस्टर पर रख दी. फिर पूछा, “इससे बचा कैसे जाये? कौन हैं वे चार-पांच लोग जिनसे दूर रहना है?”

मैंने बताया कि इस विषय में तो चोपड़ा ही उन्हें पक्का बता पायेगा. बाकी प्रदीप पर संदेह है. यह सुनकर उन्हें करंट-सा लगा, “अरे आज उसका ऑफ-डे था, वह सुबह ही मुझे ला-फैकल्टी में मिला था, मैंने तो रसीद काटकर पांच रुपये भी लिये थे.”

मैंने पूछा, “क्या आपने उससे हाथ मिलाया था?. . .यह रोग हाथ मिलाने से, निकट से बात करने से भी लग सकता है.” इस पर वे चिंतित हो उठे, “हां, हाथ तो मिलाया था. अब क्या होगा ?. . .क्या हाथ धो लूं?” मैंने कहा, “अब क्या हाथ धोना, वे हाथ तो बस के डंडों पर लग गये होंगे.”

उन्होंने कुछ याद किया और बोले, “मुझे बस भी याद है, उसके पीछे फलां सोप का विज्ञापन लगा था, अब लौटते हुए उसमें नहीं बैठूंगा.” थोड़ी देर बाद वे फिर बोले, “नवल, तुम्हारे पास फालतू दस्ताने हैं?”

कालेज में कक्षाएं समाप्त होने पर हम सब एकत्रित हुए और विमर्श करने लगे. तय हुआ कि प्रिंसिपल की राय ली जाये. (वैसे घूमने का शौक हमारे प्रिंसिपल को भी है) हम उनसे मिले. वह कार्यकारी प्रिंसिपल हैं. वास्तविक प्रिंसिपल डा. मल्होत्रा गये हुए थे—भारतीय शिक्षण की समस्याओं पर पेरिस में हो रही संगोष्ठी में भाग लेने के लिए. कार्यकारी प्रिंसिपल डा. राजेंद्र गुमसुम हो गये और बोले, “मुझे पेरिस कॉल मिलानी होगी. डा. मल्होत्रा इस समस्या के बारे में कुछ भी बताकर नहीं गये थे. कह गये थे कि कोई बहुत ही संकटपूर्ण स्थिति हो तो कालेज से फोन कर लेना. मैं तो कल तक उनसे पूछकर ही बताऊंगा कि क्या किया जाये.”

▣

अगले दिन प्रेम प्रकाश ने तो छुट्टी ले ली. शेष सभी एकत्रित हुए. गौतम बनर्जी ने बताया कि उसने प्रदीप का पीछा किया था, प्रदीप घर से एक बार पान खाने निकला था और फिर घर में घुस गया. मैं उसके घर के बाहर खड़ा उसका पीछा तब तक करता रहा जब तक उसकी बत्ती बुझ न गयी, लौटकर मैंने पानवाले से प्रदीप के विषय में कुछ ऐसी जानकारी लेनी चाही तो उसने मुझसे कहा, “प्रदीप बाबू को छोड़ो, तुम्हें माल चाहिए तो ढाई सौ रुपल्ली निकालो.” यह सुनकर हम सब कुछ आश्वस्त हुए कि डा. प्रदीप इतने पैसे नहीं खर्च कर सकता, इतने पैसे खर्चेगा तो आये दिन हम सबके नाम से शेयर कैसे खरीद सकता है ? आज की बैठक में बंसल भी शामिल था, उसे पंजाब और दिल्ली में तीन छात्रावासों का अनुभव था. उसने यह कहकर फिर हमें संशय में डाल दिया, “क्या जरूरी है कि प्रदीप अपने घर के पासवाले पान वाले के थ्रू कहीं जायेगा? वह पॉश कालोनी में रहता है, वहां रेट ज्यादा हो सकते हैं. दिल्ली में सभी तरह की चीज मिल सकती है. और फिर तुम लोग बेचारे प्रदीप के पीछे ही क्यों पड़े हो, बाकी चार लोग कौन हैं, उन्हें तो ढूंढ़ो! . . . प्रेम प्रकाश भी तो नहीं आया है, वह तो अक्सर गोष्ठियों में बाहर जाता है. जब कल तक था तो वह आज क्यों नहीं आया? हो सकता है इसमें कोई राज हो! ”

प्रेम प्रकाश और गुप्त रोग ? मैं मान ही नहीं सकता था. उसकी तीनों मित्रों से मैं परिचित था, तीनों साफ-सुथरी और स्वस्थ थीं. पर हो सकता है बाहर किसी दूसरे प्रांत में कोई ऐसी-वैसी हो. मुझे अपनी दोस्ती पर पहली बार क्षोभ हुआ, 'सखि वे मुझसे कह कर जाते'. प्रेम ने मुझे बताया ही नहीं कि वह कहां-कहां और जाता है. 'दोस्त दोस्त न रहा. . .' दीवार दूर थी, नहीं तो मैं पीड़ा से सिर मार ही देता!

खान साहब पूरे स्टाफ में अकेले फॉरन-रिटर्न थे, उन्होंने फैसला दिया, “नवल, प्रेम प्रकाश से आग्रह करेगा कि या तो वह अपने भेद बता दे, नहीं तो प्रदीप से सीधे ही किसी भी तरह से पूछ ले कि उसे 'वो' तो नहीं है. शेष ढाई आदमियों की खोज इसके बाद प्रदीप और प्रेम द्वारा बताये गये लक्षणों के आधार पर सरलता से कर ली जायेगी.”

मैं संध्या को प्रेम प्रकाश से प्रत्यक्ष नहीं मिला, उसके पड़ोसी के घर फोन करके बात की. फोन पर कोई भी बात व्यक्ति बिना संकोच और भाव-प्रदर्शित किये कर सकता है. मैंने संक्षेप में इशारों में उसे सारी बात बतायी. उसने पहली संभावना से इंकार करते हुए कहा कि वह प्रदीप से कल कालेज में स्वयं बात करेगा, यह उसकी (प्रेम की) इज्जत का सवाल है. मैंने फोन करने के बाद चोगा और अपना मुंह दोनों ही साफ रूमाल से साफ कर लिये.

▣

अब आया संकट का तीसरा और अंतिम दिन. अगली सुबह कालेज में सब मिले. प्रेम प्रकाश, प्रदीप से बात करेगा, सबको तसल्ली थी. बारह बजेवाली क्लास, कार्यकारी प्रिंसिपल को सूचित करके हम सबने छोड़ने का फैसला किया. बारह बजे तक प्रदीप से बात हो जायेगी. फिर बारह से बारह पचास तक मीटिंग होगी.

प्रेम प्रकाश ने प्रदीप से साफ-साफ बात कर ली और खान साहब का संदेह भी बता दिया. पहले तो प्रदीप भड़का, पर फिर सामान्य हो गया. उसने प्रेम से कहा कि क्या खान ने उसे कभी किसी कोठे पर देखा है ? किसी के द्वारा देखा गया, सुना है? यदि देखा है तो वह खुद वहां क्या कर रहे थे? सुना है तो क्यों नहीं पूछा ? उसे कोई रोग-योग नहीं है. वह आज और अभी अपना मेडिकल कराने को तैयार है, बशर्ते सभी का मेडिकल हो.

बारह बजे सब स्टाफ-रूम में थे, मरघट की-सी शांति थी. लोग एक-दूसरे से शंकित थे. प्रदीप और प्रेम प्रकाश इकट्ठे आये. प्रदीप ने घोषित किया कि वह निरोग है, उसने सभी के डाक्टरी मुआयने के लिए कहा. उपस्थित सभी स्टाफ के सदस्यों ने भी स्वयं को ऐसे किसी भी गुप्तरोग से दूर ही बताया. 'चार लोगों को वी.डी. और एक को लक्षण' वाली बात का भेद लिया गया. मैंने कहा—मुझे प्रेम प्रकाश ने बताया था, प्रेम प्रकाश ने कहा कि चोपड़ा ने बताया था, चोपड़ा को छाबड़ा, छाबड़ा को गौतम बनर्जी ने, गौतम को खान साहब ने और खान साहब को सतीश भाटिया ने बताया था.

सतीश स्टाफ का सबसे युवा सदस्य है, दूध के दो दांत अभी भी हैं, एकदम भोला, उसे 'बेबी लेक्चरर' कहा जाता है. उससे जब पूछा गया तो उसने रहस्योद्घाटन किया, “शामलाल कालेज में मेरे दोस्त हैं, सलिल वर्मा, उन्होंने एक दिन मुझे बताया था कि उन्होंने कहीं पढ़ा है कि हर दस व्यक्तियों में से एक व्यक्ति को वी. डी. यानी गुप्त रोग होता है और दोस्तो, हमारे कालेज के स्टाफ में पूरे पैंतालीस प्राध्यापक हैं ! . . . ”

● सी–2/3, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-110007.

पत्रों में गोपनीयता का महत्त्व क्या है?
—पढ़िए
सारिका
पत्र विशेषांक
1 अप्रेल, 1982

...पृष्ठ १९ से जारी

मेरी कोई नीयत नहीं थी. मैं स्वतंत्र भारत का ईमानदार नागरिक हूं. चांद-सितारे में काम करता हूं."

कुर्सी की ठंडी आवाज पिघलकर उबल पड़ी, "मेरे पास बकवास के लिए वक्त नहीं. दस रुपये."

"दस रुपये!" शेखचिल्ली ने हैरत में आंखें फाड़ दीं.

आखिरकार वे चांद-सितारे पहुंचे और उन्होंने अपनी रपट कर दी. फिर जैसे नयी बहू दादा के पैर छूने जाती है, उन्हें डायरेक्टर के कमरे में पेश किया गया.

वह कमरा क्या था, हाल था. घुसते ही दायीं तरफ सोफे लगे थे, डायरेक्टर नाम का प्राणी परले सिरे पर मेज पर झुका था. वह कालीनी दूरी एक सफर की तरह थी, जिसे तय करते हुए शेखजी कुछ कम हो गये.

नजरें उठीं—"बैठिए."

वे बैठे. सामने चश्मे से झांकती गजब की पैनी आंखें थीं—जैसे सब कुछ एक बार में चीर के रख देंगी. चेहरे पर इस्पात की सख्ती थी. यह आदमी हंसता कैसे होगा, शेखजी सोच सकते थे.

"आप पहले ही दिन एक घंटा देर से आये."

"श्रीमान, एक हादसा हो गया."

"क्या हुआ?"

"मैं गलत बस ले बैठा. फिर टिकट न ले सका और मुझे जुर्माना देना पड़ा."

आंखें चढ़ीं "पहले दिन. . .पहले दिन आप एक छोटी-सी स्थिति नहीं संभाल सके."

"श्रीमान, मैंने भागने की सोची, लेकिन मेरे साथ एक बुढ़िया फंसी थी."

नैना गुर्राये, "बुढ़िया. . .क्या वह आपकी रिश्तेदार थी?"

"नहीं श्रीमान. . .वह सिर्फ एक बूढ़ी औरत थी."

"फिर आप पहले ही दिन क्यों शहीद हुए?"

"वो. . .एक बुढ़िया थी." शेखजी हकला गये, उन्हें लगा, उन पर फिर जुर्माना होगा—दस रुपये.

"देखिए, मेरे पास बकवास के लिए वक्त नहीं." शेखचिल्ली का माथा ठनका, डायरेक्टर बस की अदालत का डायलॉग बोल रहा था, "आगे ऐसी मूर्खता से पेश मत आइए!"

"राइट सर!"

शेखचिल्ली ने आहिस्ता-आहिस्ता जाना कि अपने पैरों पर खड़ा होना क्या होता है,कैसे होता है. . .गोया वाकई अभी तक किसी दूसरे के पैरों पर खड़े रहे हों. आपको तो याद ही होगा. चिल्ली वह वक्त का पैंतरा देख चुके थे जब अपने पिता के घर के चौके की थाली का निवाला उनके गले में फंसा जाता था. अब अपनी जेब थी, अपने पैसे थे. . .बड़ा सुकून था. जैसे कमाऊ बापों की नयी-नयी छोकरियां बाजारों में गोलगप्पे खाती और जोबन लुटाती फिरती हैं, शेखजी राजधानी के शाहाना बाजार में विहार करते हुए कभी कोक पीते और कभी सॉफ्टी खाते.

सात

आपने गौर किया होगा, बड़े शहर के प्रेम में कभी-कभी जो तेजी होती है, शिद्दत होती है, उसका जवाब नहीं. शेखचिल्ली को एक महान प्रेम की हाजत थी.

दो दिन पहले वे चांद-सितारे के काम से लखनऊ आये थे. लैला से दो-तीन मुलाकातें हुईं. फैसला अभी पुल पर हुआ. उसे आज सुबह होटल आना था. वह नहीं आयी. चिल्ली ने तब उसके घर फोन किया था. उस तरफ सख्त, मर्दानी आवाज थी, "क्या चाहिए?"

"मैं लैला से बात करना चाहता हूं."

"आप कौन हैं?"

"मेरा नाम शेखचिल्ली है."

"आप लैला से क्यों बात करना चाहते हैं?"

"क्योंकि मैं बात करना चाहता हूं."

"आप लैला से कोई बात नहीं कर सकते." फोन बंद.

लैला एक सांवली , छरहरी लड़की थी. उसकी आंखें बड़ी थीं. शायद गहरी भी. उन आंखों में बार-बार जीने का तमन्ना जलने लगती और न जी पाने की छटपटाहट. वह एक स्कूल में पढ़ाती थी. उसके बाद किसी सहेली को लेकर कभी कोई फिल्म देख लेती, हजरतगंज के दो चक्कर लगा लेती, गोमती का बहता पानी कुछ देर देखती या अपने मकान के छज्जे से आसमान ताका करती. इनसे ऊबती तो कभी-कभी बस के पहले स्टॉप से बैठकर आखिरी छोर तक चली जाती, फिर लौट आती.

वह उदास थी और इंतजार कर रही थी.

एक संवेदनशील आत्मा का हाथ उसकी तरफ मदद को बढ़ना लाजिमी था. शेखचिल्ली ने उसे कंधों से थामकर उठाया. वह सहज विश्वास से होटल के कमरे में आ गयी थी. वे अब उसकी आंखों में वह जगह ढूंढ़ रहे थे जहां अपने-आपको छोड़ दें. फिर उन्होंने अपने होंठ उसकी तरफ धीरे-धीरे झुकाये थे—वह ताक रही थी. उसके होंठ उनके होंठों में कांपे थे और देह बांहों में.

वे अब कमरे में बैठे उस कंपकंपी को महसूस कर रहे थे—अपनी बांहो में, और होंठों में.

वह जितनी बार मिली, ज्यादा सुंदर होती गयी थी—और मुक्त, किसी जंगली झरने की तरह.

वह दूसरे दिन आयी. बोली, "तुम पापा का बुरा न मानना. मैं. . .मैं कैद हो गयी," वह हंसी. "तुम्हारे फोन के बाद मुझ पर 'मीसा' जड़ दिया गया. . .खैर, बताओ कल क्या किया?"

"तुम्हारे बजाय गोमती से मिला."

"कहां?"

"मंकी ब्रिज पर."

"क्या बातें हुईं?" उसकी आंखें गहरी थीं.

"यही कुछ महान प्रेम की बाबत."

शेखचिल्ली खड़े थे. वह कुर्सी पर बैठी थी. वह दीवार को देखने लगी. शेखचिल्ली उसे देख रहे थे.

अंदर एकाएक हड़बड़ी मची. उन्होंने फिर आशु डायलॉग फेंका— "लैला, मेरी पगार अभी 765 रुपये है. घर अभी डेढ़ कमरे का है, मगर एक लंबी छत है और आसमान का बड़ा टुकड़ा है. मेरा बैंक-बैलेंस अभी 333 रुपया होगा. सूट मेरे पास साढ़े तीन हैं. मां-बाप, भाई-बहन सब हैं. पिता का घर खूब भरा है.

लैला तंग आ रही थी, संयत स्वर में बोली, "मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिए."

तभी दरवाजे पर आहट हुई. शेखचिल्ली पीछे मुड़े, दरवाजा खोला. बैरे ने अंदर झांका, पूछा, "कुछ चाहिए?"

"मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिए." शेखचिल्ली ने गुरु-गंभीर स्वर में कहा और दरवाजा फिर बंद कर दिया.

लैला हंसी. उसकी खिलखिलाहट कमरे में फूल की पंखुड़ियों की तरह खुली. शेखचिल्ली दौड़े. उन्होंने हुमककर लैला को अपने कलेजे से लगा लिया और उसे हांफते हुए ताबड़तोड़ चूमने लगे. . .आहिस्ता-आहिस्ता जिस्म बोले. उनकी भाषा अलग थी. मगर ऐसा भी हो सकता है कि कभी फूल के रंग और गंध में फर्क ही महसूस न हो. मांस के कुछ टुकड़ों और कुछ द्रव पदार्थों की उत्तेजना में कभी-कभी समूचे जीवन की अभिव्यक्ति हो सकती है.

आठ

शेखचिल्ली ने अपना बेहतरीन सूट पहनकर अग्नि-परीक्षा दी. वे लला के पापा के समक्ष उनके ड्राइंग-रूम में बैठे थे. पापा उनके सामने, आंखों पर मोटा चश्मा चढ़ाये, धीर-गंभीर. यों आते ही शेखजी ने धोबी पछाड़ मार दिया था. अभिवादन के बाद उन्होंने पापा से कहा था, "माफ कीजिए, क्या मैं फोन कर सकता हूं?"

"जरूर-जरूर," पापा और क्या कहते! फिर पांच मिनट उन्होंने 'चांद-सितारे' के वितरक से बड़े ठसके से बात की थी. लैला के मदर-फादर खड़े-खड़े बहार देखते रहे. उनका चोंगे से अंतिम अंग्रेजी संवाद था, "अच्छा-अच्छा, एक घंटे बाद गाड़ी भेज देना, मैं आकर देख लूंगा". चोंगा उन्होंने ऐसे वापस रखा जैसे भोलेशंकर का खंडित गांडीव हो और पापा की जानिब मुस्करा के देखा था, 'पूछो बेटा, और क्या पूछना है?'

लैला के माता-पिता को पहली नजर शेखचिल्ली ने हैरत से देखा था. यही वे दिव्य लोग थे जो लैला को इस दुनिया में लाये. लैला दो-तीन बार ड्राइंग-रूम में मुस्कराती हुई आयी और चली गयी—शेखचिल्ली ने आधी बार उसे ऐसे देखा जैसे वह लैला न हो, उसकी छोटी बहन हो.

पिछली बार जब लैला ड्राइंग-रूम में आयी, शेखचिल्ली पापा को अपने जनरल मैनेजर का किस्सा सुना रहे थे.

"लगता है, आपके ताल्लुकात अच्छे हैं." पापा बोले.

"ऐसे ही, कुछ-कुछ."

"आप आगे जायेंगे!" पापा अपने को भरोसा दिला रहे थे.

"आपका आशीर्वाद है." शेखजी झटके से विनम्र हो गये.

पापा खुश.

पारिवारिक सूचनाएं खोदने के बाद पापा बोले, "आपने बताया, आपके बाबा गांव में रहते हैं. कितनी जमीन है?"

"सारी धरती अपनी है, पापा, बाहें फैलाओ!" शेखचिल्ली ने बाहें फैला दीं.

पापा कुछ झेंपे-से हंसने लगे, बोले, "आप तो शायरों की तरह बातें भी कर लेते हैं!"

दोनों कुछ देर हंसे. लैला की मां मुस्कराती रही.

लैला फिर दाखिल हुई. शेखचिल्ली ने पहली बार उसे भरपूर नजर से देखा. वह इतरा रही थी.

फिर एक जाड़ों की सुबह दस पैंतीस पर लखनऊ में महानगर स्थित पापा के मकान पर लैला-मजनूं का विवाह संपन्न हुआ. लैला वेड्स मजनूं. वर-वधू को उपस्थित व्यक्तियों ने अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक आशीर्वाद और शुभ-कामनाएं दीं. कोई बोला, "हजार साल दांपत्य-सुख में रहो, दूधो नहाओ, पूतों फलो." किसी ने कहा, "शादी मुबारक, हनीमून कहां होगा?" वर-पक्ष से विवाहोत्सव में वर उपस्थित था. वधू पक्ष से शादी-अफसर, पापा और मां के अलावा कन्या की कुछ सहेलियां थीं. विवाहोत्सव धूप और मुस्कानों से सफल हुआ.

रात शेखचिल्ली लैला को लिये दिल्ली की गाड़ी में चढ़े. दो बर्थों का कूपे पापा ने आरक्षित करवा दिया था. लैला-परिवार और सखियां प्लेटफॉर्म पर रंग-बिरंगे कपड़ों में रोशनी के नीचे खड़े थे. गाड़ी चली. पहले रूमाल हिलाते हाथ धुंधले हुए, फिर रोशनी. शेखजी ने लैला को कंधे से पकड़ा और उसे मोड़कर अंदर की तरफ ले चले.

"जरा खिड़की में देखो, मैं कपड़े बदल लूं." लैला ने कहा.

खटर-खटर. . .खटर–खट. . .खट. . .खटर. . .

शेखजी खिड़की से लगे बैठे थे. उन्होंने अंदर झांका. लैला अब सिर्फ अंगिया पहने थी, दूसरी ओर मुंह किये थी, नीली-पीली आंखों में लैला आग की लपट बनके दहकी. तलवों के ऊपर पतली, लंबोतरी टांगें थीं, फिर जैसे फलों में रस भरा हो, ऐसी जांघें और ऊपर संकरी कमर अंगिया की पट्टी के कब्जे में थी और कंधे पर बाल लटक रहे थे.

शेखचिल्ली सहसा चांद-सितारों की सोहबत से उठे और लैला की तरफ बढ़े. फिर दोनों वहीं बर्थ पर गुत्थम-गुत्था होने लगे. खटर. . .खटर खट—खटाके होती रहीं. ठंडी हवा चलती रही. झाड़-झंखाड़ अपने आकार चांदनी को देते रहे. भीतर पीली आंख गुल थी, नीली चालू. नीली रोशनी की बाहें थरथरा रही थीं, न मजनूं पकड़ में आता था न लैला—अलबत्ता दोनों एक-दूसरे में फंसे थे.

नौ

फ्रिज के बिना घर चलाना कितना मुश्किल है—यह सत्य लैला ने जीवन में पहली बार हृदयंगम किया.

शेखचिल्ली हर शाम चोट खाये-से घर लौटते. चौखट पर सोलह सिंगार किये उद्दाम प्रेम डटा होता. वे कब्री-सी काट के कमरे में ढेर होते. एक प्याली चाय से कुछ चेतना लौटती तो पूछते—"दिन कैसा रहा?"

"बहुत अच्छा," लैला कटी-सी बोलती.
"क्या किया?"
"बस, तुम्हारे बारे में सोचती रही."
"मैंने भी दिन में तुम्हें कई बार याद किया."
वे अक्सर झूठ बोल जाते.

आप पूछेंगे, मैं भी पूछता हूं—शेखजी, वह हिमालय को टुकड़े-टुकड़े करने का जज्बा कहां गया?—मगर वह जज्बा एक आदमी का था. उसी आदमी को शेखचिल्ली सुबह से शाम तक महानगर में ढूंढ़ते थे. हर शाम जो बहुरुपिया घर लौटता उसमें लैला बेकली से अपना आदमी खोजती.

दस

शेखचिल्ली चांद-सितारे छोड़कर सूरज लिमिटेड में आ गये. यह और भी बड़ा संस्थान था. वे एक केबिन में घिर गये. घर करोलबाग से उठकर डेफकाल पहुंचा. . .यानी डिफेंस कॉलोनी. . .एक नहीं, दो बेड-रूम का फ्लैट था.

एक दिन अन्न का निवाला गले में डालते शर्म आयी थी, अब हॉल में खाने की चमचमाती मेज थी और उसको घेरे पतली-छरहरी, छह सुघड़ कुर्सियां. सोने को एक पलंग नहीं, डबल-बेड था. दूसरे कमरे में फ्रिज सो रहा था. मुख्य दरवाजे से टी.वी. भी आया.

दल-बदल हो रहा था. शेखचिल्ली सफल हो गये थे.

सूरज लिमिटेड ने गाड़ी के लिए ऋण दिया और ताकीद की—फौरन गाड़ी खरीदो. यह संस्था की छवि का सवाल है. गाड़ी आयी. दो-तीन बार गाड़ी इधर-उधर पटरियों पर गयी. फिर सर्र-सर्र सड़क पर चलने लगी. सर्र-सर्र अच्छी लगने लगी, मन को भाने लगी. . .

ठीक है ठीक है, मजे लो. भूल जाओ. यही तुम्हारी गति है. भूल जाओ कि हर बार तुम पैर जमीन से उठाकर गाड़ी में पसरते हो, आंतिया-ताल की अंधेरी सीढ़ियों पर खड़ा शेखचिल्ली चौंक जाता है.

अब वे दिन नहीं थे जब लैला हर शाम बिरहिणी की तरह शेखजी का इंतजार करती थी, क्योंकि उसके पास करने को कुछ नहीं था. जब वे आते, वह दूर के दर्शन कर रही होती या बालक के साथ पढ़ाई खेल रही होती. वह कहती, "हलो. . . अच्छा तुम चाय पियोगे या कॉफी?" उसका स्वर कुछ तेज हो गया था.

"कॉफी."

"राम खिलावन," वह आवाज और तेज करती, "साहब के लिए कॉफी बनाओ."

"क्यों, तुम भी पियो न." वे अनमने-से कहते.

"न, मैंने अभी पी है, बस अभी-अभी." वह मुस्कराती हुई गर्मजोशी से कहती.

साहब सोफे पर पसर जाते. मैं तो साला साहब बन गया. देखो, देखो, कैसा तन गया! ये सूट मेरा देखो, ये बूट मेरा देखो. . .ये सूट देखो, ये बूट देखो. . .ये सूट-बूट, बूट-सूट. . . सू-सू. . .बू.. .बू. . .ये जो सूट पहनकर, आईने में निरखकर, आदमी के तनने की प्रक्रिया है न—बस, यही कुंडा कर देती है. हमारे यहां तो रेड़ मारकर रख देती है. आदमी का चेहरा आईने में रह जाता है. सूट इस असार संसार में विहार करता है.

शेखचिल्ली का बेटा जिस तरह बढ़ रहा था, उसे उन्होंने आहिस्ता-आहिस्ता जाना. लैला उसकी देख-रेख करती थी, वे उसे हैरत से निहारा करते. अपनी हैरत का जिक्र वे कभी-कभी लैला से करते. वह पापा की आवाज में बोलती, "मुझे पप्पू को बड़ा आदमी बनाना है, घसियारा नहीं."

सारे जहां से अच्छे हमारे हिंदुस्तान में दो-ढाई हजारी पगार काटते हुए शेखचिल्ली को अभी भी 'बड़ा आदमी', 'बॉस' जैसे शब्दों से चिढ़ थी. वे भड़क उठते, "तुम कभी नहीं समझोगी, कभी नहीं समझोगी." यह कहते-कहते वे मेज पर रखे गिलास या प्याले हाथ के एक शक्तिशाली झाड़ से फर्श पर फेंक देते. टूटने की आवाज जितनी तेज होती, उन्हें उतना ही सुकून मिलता. इस मधुर स्वर-लहरी से उनके धुंआते कलेजे को ठंडक मिलती थी. ऐसे उत्सवों पर लैला हमेशा दूसरे कमरे में प्रस्थान कर देती.

ये थी एक गिरफ्तार आत्मा की लज्जतदार छटपटाहट—फिर उसके विश्राम की अदा. कल फिर यह छटपटायेगी.

ग्यारह

रात आधी से ज्यादा बीत चुकी थी. आंखों में नींद गढ़ रही थी. सूखी पलकें टीन के पत्तर-सी ऊपर-नीचे होती थीं, ऊपर-नीचे होती थीं, पर बंद नहीं होती थीं. करवट लेते थे तो गेंद-से उछल जाते थे. डनलप का गद्दा इतना नर्म था कि थोड़े दबाव के जवाब में दबाव को ही उछाल देता था. शेखचिल्ली जीवन में पहली बार पांच-सितारा होटल के कमरे में लेटे थे. उन्होंने सारी बत्तियां गुल कर दी थीं. फर्श पर बिछा मोटा कालीन, दीवारें, परदे—चप्पे-चप्पे पर एक नर्म अंधेरा छाया-सा हुआ था.

सवेरे देर से आंख खुली. दिन में काम के बीच चिल्ली ने कविता को फोन किया. वह चित्रकार मित्र की बहन थी. यहां नौकरी करती थी, अकेली रहती थी. दिल्ली में दो-तीन बार मिल चुकी थी.

"अच्छा, तुम! कहां से बोल रहे हो?"
"बंबई से, मतलब वर्ली से."
"कब आये?"
"कल."
"कब मिल रहे हो?"
"जब तुम चाहो."
"मेरा ऑफिस पांच बजे खत्म होता है, यहीं आ जाओ."
"मैं साढ़े पांच तक आऊंगा."
"जरूर आना. . .मैं इंतजार करूंगी."

पांच-सितारा होटल के कक्ष में वे दोनों परों-से नर्म पलंग पर नंगे चित्त लेटे थे. छातियों तक सफेद चादरें थीं. वे दोनों चुप थे और छत ताक रहे थे—वहां रोशनी नहीं थी.

शाम हो रही थी. समुद्र पर पर्दा पड़ा था.

आज इतवार था. वे दोनों सुबह फेरी से एलीफेंटा की गुफाएं देखने गये थे.

फेरी पर महानगर के लड़के-लड़कियां खुशियां मना रहे थे. वे गा रहे थे. उसके पास बांसुरी और खड़तालें थीं. उनके कपड़े रंग-बिरंगे थे जैसे सितारे पहनते हैं.

लौटने से पहले सूचना मिली थी कि सागर का मिजाज ठीक नहीं, एक फेरी डूब गयी है. उनकी फेरी देर से चली. नृत्य-संगीत का कार्यक्रम समाप्त हो चुका था. अब कुछ नहीं था. मुसाफिर चुप थे. लहरों का स्वर आहिस्ता-आहिस्ता खौफनाक होता गया. . .फेरी की आवाज कर्कश थी. कोई भी आवाज कर्कश थी. छाती पर एक दस्तक थी.

जैसे वह आवाज हमेशा भीतर थी—उस वक्त उखड़कर खड़खड़ा रही थी. उन्मुक्त लहरें उछल-उछलकर चीखती हुई मुसाफिरों को हजारहा आईने दिखा रही थीं.

"कविता!" चिल्ली ने कहा था.

उन्होंने उसकी हथेली थाम ली थी जो पसीने से गीली हो गयी थी.

वह चुप रही थी. लहरों की, लहरों की फेरी से टकराने की और फेरी के इंजन की आवाज सुनती रही थी. फिर उसने पूछा था, "तुम्हें डर नहीं लगता?"

"लगता है." शेखचिल्ली फेरी पर अकेली हंसी हंसे.

कविता अपना जिस्म चादर में लपेटकर स्नानगृह में ले गयी. उसकी देह दिलकश थी.

शेखजी ने लेटे-लेटे एक सिगरेट सुलगा ली. एक लंबा कश लिया.

सहसा वह स्नानगृह से एक लंबी तौलिया लपेटे बाहर निकली. शेखचिल्ली दंग थे—वह ऐसी दत्त-जिस्म और दत्त-चित्त चल रही थी जैसे बरसों से रोज इसी तरह पांच-सितारा स्नानगृह से बाहर आ रही हो. वह मुस्करा रही थी.

वे एकाएक पलंग पर नंगे उछले और उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर अंगूठे, आंखों के नीचे ऐसे जोड़े जैसे फिल्म निर्देशक शॉट लेने से पहले साधता है.

कविता ठिठक गयी. फिर शेखचिल्ली की नंगी मुद्रा देखकर हंस पड़ी. हंसती रही.

वे चमककर पलंग से कूदे और दौड़कर उन्होंने रोशनी गुल कर दी. फिर उन्होंने कांच की दीवार पर चुपचाप सागर खोला और उसे खबर दी—मैं औरत को प्यार नहीं कर सकता. उनकी एक आंख में एक आंसू था, दूसरी में दूसरा.

वह अंधेरे में खिलखिला रही थी.

बारह

शेखचिल्ली जब अपने शहर में दाखिल हुए, रात काफी हो चुकी थी.

घर का दरवाजा मां ने खोला. पीछे-पीछे पिता आये. अंधेरा था. चिल्ली ने अटकल से बारी-बारी उनके पैर छुए. उठते हुए ऊपर देखा. सिर्फ जिस्मों पर पड़े कपड़े चमके. मां ने कहा, "खाना खा लो." उन्होंने कहा, "खा लिया." फिर उन्होंने टार्च ली और बाहर निकल पड़े. आंगन से मां ने कहा, "इतनी रात कहां जाते हो?"

शेखचिल्ली के हाथ में टार्च की आंख इधर-उधर ऐसे भटकती है जैसे वे अपने शहर में कुछ ढूंढ़ रहे हों. आंख कभी वे किसी बंद घर के दरवाजे पर चिपका देते, कभी उसे उखाड़कर फिर सड़क पर दूर फेंक देते. सड़क और उसके दोनों ओर उजाड़ मकानों की मुसलसल कतारों पर अंधेरे ने ताला जड़ दिया है. मोहल्ले में सन्नाटा कुंडली मारे बैठा है.

एक कुत्ता भौंका.

शेखचिल्ली एकाएक समझ नहीं सके कि जो सन्नाटा उन्होंने अभी महसूस किया था, वह उनके भीतर है या बाहर. वे तुरंत दायीं ओर मुड़ गये. दोनों ओर बाहें झुलाते चलते रहे. उनके साथ सिर्फ उनके कदमों की आवाज थी. सन्नाटा विराट था. उनके कदमों की आवाज उसे टहोके मारकर और-और जगाती रही. . .वह सहसा एक जंगली जानवर की तरह अपने दोनों पिछले पैरों पर खड़ा हो गया.

वे जवाहर चौक पर एक छाया की तरह खड़े थे. छोटे-से गोल घेरे में झंडे का झंडा आकाश में गड़ा था. कोई पताका नहीं थी.

उनके पीछे बूटों की आवाज में गुंथा एक प्रश्न हुआ, "कौन है?"

वे घूमे. एक सिपाही सड़क रौंदता हुआ उनकी तरफ बढ़ा था. वह उनसे कुछ सेंटीमीटर ऊपर खड़ा हुआ, उसका चेहरा स्याह था. उसने फिर पूछा—"कौन हो?"

शेखचिल्ली चुप थे, उसकी छाया देख रहे थे. उसने फिर पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरा नाम. . .शेखचिल्ली."
वह हंसा—"तुम जिंदा हो!"
"मैं गिरफ्तार आत्मा हूं."
"क्क. . .क्या?"
"मैं गिरफ्तार आत्मा हूं."

अंधेरे में एक पूरा वाक्य फिर बिजली की तरह कड़का. सिपाही डरा. बोला—"अच्छा अच्छा, घर जाओ. जाके सो जाओ. तुम्हें मालूम नहीं, शहर में बलवा है."

वह एकदम पलटा और बूटों की तेज खट-खट धुंधलके में गायब हो गयी.

मां ने किवाड़ खोले तो शेखचिल्ली धुर तिमंजिले पर चढ़ गये. उन्होंने छत पर हाथ बढ़ाकर नीम की पत्तियों को छुआ. मां दूसरी मंजिल की छत पर एक छाया-सी बड़ी अटारी में जा रही थी जहां पिता की छाया लेटी है. फिर उन्हें एकाएक लगा, वे घर की छाया पर टिके हैं. उन्होंने हड़बड़ाकर चारों तरफ फैले शहर को देखा. एक सायों का हुजूम खुली पोटली की तरह बिखरा हुआ था.

एक चमत्कार हुआ था. चांद उजली हड्डी-सा आकाश में टंगा था. साये निखर आये थे.

शेखचिल्ली ने शहर से किले की तरफ बांहें उठायीं. किला हड्डी की रोशनी में ठोस हो गया था—काला.

फिर वे पीछे मुड़े. आगे बढ़े. वे आहिस्ता-आहिस्ता सामने दीवार पर चढ़ती अपनी समूची परछायीं के रूबरू हुए—फिर अचानक उसी छाया में गायब हो गये. □

● ई-122, कमला नगर, आगरा

चलो जापान, चलो जापानः
समापनकिस्त

बुलेट ट्रेन में कभी न बैठो

• मुज्तबा हुसैन

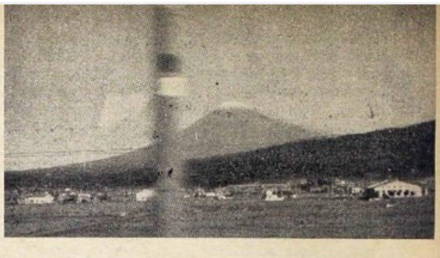

• बुलेट ट्रेन से देखा गया फ्यूजी पहाड़ का एक दृश्य

साहबो, जब से जापान आये हैं, हमें अपने वतन की रेलगाड़ियों की शिद्दत से याद आ रही है. टोक्यो में हमारी आवारागर्दी का एकमात्र जरिया जापानी ट्रेनें ही हैं. यों भी सारा जापान ट्रेनों में भागता फिरता है. हम भी एक ट्रेन से उतरते हैं तो दूसरी ट्रेन में सवार हो जाते हैं, दूसरी से उतरते हैं तो तीसरी में घुस जाते हैं.

अब तो खैर हमें इन ट्रेनों में बैठने की आदत हो गयी है. शुरू में इनमें बैठते हुए डर लगता था, इसलिए कि ये ट्रेनें किसी भी स्टेशन पर एक मिनट से ज्यादा नहीं ठहरतीं. इधर ट्रेन रुकती और उधर सारी ट्रेन के दरवाजे खुद-ब-खुद खुल जाते हैं. उतरने वाले उतर जाते हैं और ट्रेन में चढ़ने वाले चढ़ जाते हैं. और फिर दरवाजे अपने आप बंद हो जाते हैं. हमें अक्सर यह डर होता था कि अगर हमारा एक पांव डिब्बे में और दूसरा पांव प्लेटफार्म पर हो और ऐसे में डिब्बे का दरवाजा खुद-ब-खुद बंद हो जाये तो हमारा जो होना है, सो हो जायेगा, मगर हमारे बाल-बच्चों का क्या होगा!

टोक्यो में ज्यादातर ट्रेनें निजी रेलवे कंपनियां चलाती हैं. हुकूमत की तरफ से भी एक ट्रेन चलायी जाती है, लेकिन उसमें लोग जरा कम ही बैठते हैं, क्योंकि सरकारी ट्रेन होने की वजह से उसका किराया दूसरी ट्रेनों से मुकाबले में ज्यादा होता है और कारगुजारी भी कुछ ऐसी-वैसी ही होती है. हर कंपनी की ट्रेन का रंग भिन्न होता है. नीली, पीली, लाल, हरी, मटियाली— गरज कि जापान में हर रंग की ट्रेन होती है.

जापान की रेलगाड़ियां दुनिया की तरक्कीयाफ्ता रेलगाड़ियां समझी जाती हैं, लेकिन फिर भी हमारी रेलगाड़ियों का मुकाबला नहीं कर पातीं. हमारी रेलगाड़ियों में जो सुविधाएं प्राप्त हैं, वे जापानी रेलगाड़ियों में हरगिज नहीं हैं. मिसाल के तौर पर हम अपने वतन की गाड़ियों में अक्सर दरवाजे से लगे हुए डंडे से लटककर सफर करते हैं, बड़ा लुत्फ आता है. यह सुविधा जापानी रेलगाड़ी में बिल्कुल नहीं है. हम जब भी ट्रेन का सफर करते हैं तो अपनी पुरानी बुशर्ट या पतलून जरूर फड़वा लेते हैं, यह सुविधा भी जापानी ट्रेन में नहीं है.

▣

फिर जापानी ट्रेन के मुसाफिर भी बड़े असभ्य होते हैं, किसी से कोई बात नहीं करते. भला यह भी कोई सफर करने का तरीका हुआ. हम जापानी ट्रेनों में पिछले एक महीने से सफर कर रहे हैं. किसी मुसाफिर ने पलटकर यह नहीं पूछा कि मियां, कहां रहते हो? कहां जा रहे हो? क्या करते हो? बाल-बच्चे कितने हैं? कितने बच्चों की शादियां हो चुकी हैं? आपके शहर में प्याज का क्या भाव है? आलू के क्या दाम हैं? तीसरा विश्वयुद्ध कब होगा, वगैरा वगैरा. जापानी लोग ट्रेन में सफर करते वक्त 'मौन व्रत' रख लेते हैं.

प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े किताबें पढ़ते हैं. ट्रेन आती है तो किताब में उंगली रखकर ट्रेन में घुस जाते हैं. हमें अक्सर यों महसूस होता है कि जैसे हम किसी लाइब्रेरी में बैठे हैं और लाइब्रेरी के नीचे पहिए लगा दिये गये हैं. जापानी या तो पढ़ते हैं या लिखते हैं, बात बहुत कम करते हैं. उन्हें कौन समझाये कि मियां, रेलगाड़ियों में लोग चेहरे पढ़ते हैं, किताबें नहीं. एक-दूसरे की कुशल-क्षेम पूछते हैं और आजकल के हालात पर टीका-टिप्पणी करते हैं.

जापानियों को सफर करना बिल्कुल नहीं आता. इस मामले में ये लोग हमसे बहुत पीछे हैं. सिर्फ आरामदेह गाड़ियां बनाने से कुछ भी नहीं होता. सफर करने के कुछ आदाब भी होते हैं, जिनसे जापानी वाकिफ नहीं हैं.

हमें जापानी रेलगाड़ियों से यह भी शिकायत है कि ये बहुत ठीक वक्त पर चलती हैं. इंतजार में जो लज्जत होती है, उसका मजा जापानियों को क्या मालूम. ऐसे ही कई मामलात हैं, जिनमें जापानी हममें बहुत पीछे हैं. आप यकीन करें कि हमें टोक्यो में किसी भी स्टेशन पर ट्रेन के लिए दो मिनट से ज्यादा इंतजार नहीं करना पड़ा. एक ट्रेन जाती है तो दूसरी उसके पीछे आ जाती है. और फिर इनकी रफ्तार

भी इतनी तेज कि आदमी का कलेजा मुंह को आ जाये. पता नहीं, इन्हें कहां जाने की जल्दी होती है.

हमने जापानी बुलेट ट्रेन की शोहरत बहुत सुनी थी. उसमें भी सफर करके देख लिया. बिल्कुल वाहियात गाड़ी है. हमें बुलेट ट्रेन में बैठकर टोक्यो से क्योटो जाना था. यूनेस्को के ओहदेदार शिजी ताजिमा से टोक्यो से क्योटो का फासला पूछा. मालूम हुआ कि लगभग पांच सौ किलोमीटर से कुछ ऊपर का फासला है. अब आदमी इतने लंबे सफर पर जाता है तो सफर की तैयारियां भी करता है. हमने पूछा, "इतना लंबा सफर है, बिस्तरबंद भी साथ रख लें?"

शिजी ताजिमा ने हंसकर कहा, "उसमें सोने की जगह ही कहां होती है कि आप अपना बिस्तर लगा सकें."

शिजी ताजिमा चूंकि हिंदुस्तान में एक साल रह चुके हैं और हमारी ट्रेनों में सफर का खासा लंबा तर्जुबा रखते हैं, इसलिए शरमाकर बोले, "मुझे आपकी मजबूरी का अंदाजा है. हिंदुस्तान में सफर करने का लुत्फ ही कुछ और है. मुझे एक बार आपकी ट्रेन में चालीस घंटों तक बैठने का इत्तफाक हुआ था. इन चालीस घंटों में मेरे साथी मुसाफिर की दो सुराहियां टूटी थीं और सारे डिब्बे में जलथल हो गया था. स्टेशन पर उतरकर लोटों में पानी भरने का मजा ही कुछ और होता है. हमारी ट्रेनों में यह सुविधा नहीं होती."

हमें बताया गया कि क्योटो जाने के लिए टोक्यो सेंट्रल स्टेशन से बुलेट ट्रेन 8 बजकर 41 मिनट पर निकलेगी. हमने सोचा, यह सिर्फ एक धौंस है, जो हम पर जमायी जा रही है. भला कौन-सी ट्रेन वक्त पर चलती है. हम टोक्यो सेंट्रल स्टेशन पर पहुंचे तो साढ़े आठ बज चुके थे और बुलेट ट्रेन का दूर-दूर तक कोई पता नहीं था. हमने ताजिमा को छेड़ने के अंदाज में कहा, "हजरत, वह जो बुलेट ट्रेन 8 बजकर 41 मिनट पर चलने वाली थी, वह कहां है?" ताजिमा ने कहा, "बस आती ही होगी."

ठीक आठ बजकर पैंतीस मिनट पर बुलेट ट्रेन प्लेटफार्म पर नमूदार हुई. उसका इंजन हवाई जहाज [illegible] का होता है. देखने में बह[illegible] होती है. उसमें 16 डिब्बे [illegible] सारी ट्रेन वातानुकूलि[illegible] हम ट्रेन में दाखिल हुए [illegible] जैसे हम हवाई जहाज में [illegible] का इंतजाम इसी तरह [illegible] यह ट्रेन हानशू टापू में [illegible] से कियोशो टापू में स्थित [illegible] एक हजार सत्तर किलो[illegible] फासला लगभग छह घंटों में [illegible] है. यह दुनिया की सबसे ते[illegible] ट्रेन समझी जाती है, क्योंकि [illegible] घंटे में 210 किलोमीटर का [illegible] तय करती है.

[illegible] माहौल [illegible] वहां बिताये [illegible] नास्टैल्जिया [illegible] सहमते कलम [illegible] लिखते-लिखते [illegible] के अखाड़े में [illegible] ढंग निराला [illegible] की पट्टियों [illegible] लगता है, [illegible] उसे प्रसव [illegible] भी, कहीं [illegible] में उसके [illegible]

हम ट्रेन में बैठे अपनी [illegible] को देख रहे थे कि ठीक 8 बज[illegible] मिनट पर ट्रेन गोली की तरह [illegible] से निकली. तब हमें यकीन आया [illegible] इस ट्रेन को बुलेट क्यों कहते हैं. दिलच[illegible] बात यह है कि हर दस मिनट के बाद एक बुलेट ट्रेन टोक्यो से हकाता के लिए निकलती है.

[illegible] ीजा है [illegible] सुनाते- [illegible] चीजें [illegible] शन [illegible]

▣

इन ट्रेनों की सबसे बड़ी खूबी इनकी वक्त की पाबंदी है. हमें बताया गया कि अगर कभी ट्रेन दस मिनट लेट हो जाये तो मुसाफिरों को सारा किराया वापस कर दिया जाता है. इन ट्रेनों में ऑटोमैटिक कंट्रोल होता है. कभी ट्रेन की रफ्तार तेज हो जाये तो ट्रेन को खुद-ब-खुद ब्रेक लग जाते हैं. जापान में भूकंप बहुत आते हैं. जैसे ही भूकंप आता है, ट्रेन खुद-ब-खुद रुक जाती है. पटरियों की सुरक्षा के बारे में सिगनल भी सैकड़ों में मिलते हैं. हर ट्रेन का टेलीफोन-संबंध एक-दूसरे से और सारी ट्रेनों का संबंध टोक्यो के सेंट्रल स्टेशन से होता है.

बुलेट ट्रेन पर सफर करके हमें दुख इस बात का हुआ कि इसमें धक्के नहीं लगते. ट्रेन के चलने की आवाज भी सुनाई नहीं देती, क्योंकि इस ट्रेन की खिड़कियों में दो शीशे लगे हुए हैं और इन दोनों शीशों के दरम्यान खाली जगह होती है, जिसकी वजह से बाहर की आवाज अंदर सुनाई नहीं देती.

लिए कर दें. ब्यौरे में जाने पर पता चलेगा कि बस में उस 'दीन-हीन' से परिचय हो गया है.

मुज्तबा हर-दिल-अजीज है. इसी से कभी-कभी उस पर बेहद गुस्सा आता है, उसका परिचय बड़ों-बड़ों से है. वह उनके यहां ऐसे-ऐसे लोगों को लेकर जा पहुंचता है कि सिर धुनने की इच्छा होती है, लेकिन इस तरह के काम वह पूरी लगन से करता है. मेरा खयाल है कि अगर वह पूरब को पच्छिम से मिलाने की ठान ले तो वह भी कर दिखायेगा, क्योंकि चुनौतियां स्वीकार करने का उसे शौक है.

यह चुनौती ही थी कि वह रोने-गाने वाली कहानियां लिखते-लिखते हंसाने-गुदगुदाने वाली हास्य-व्यंग्य की पुलकियां लिखने लगा. हुआ यूं कि हैदराबाद के उर्दू दैनिक 'सियासत' के हास्य-व्यंग्य के स्तंभ लेखक मियां [illegible]की की 31 जुलाई, 1962 [illegible]

चुके हैं. हमारे [illegible] होती हैं, वह आपके यहां कहां! वह सफर ही क्या, जिसमें आदमी को धक्के न लगें. हमने तीन घंटे आपकी ट्रेन में सफर किया, किसी ने हमारे सिर पर संदूक नहीं रखा. किसी का होलडॉल हमारे पांव पर नहीं गिरा. किसी मुसाफिर ने सीट के लिए दूसरे मुसाफिर से लड़ाई नहीं की. और फिर वह हर स्टेशन पर 'चाय लो चाय' 'पान-बीड़ी सिगरेट' वाली परिचित आवाजें सुनायी नहीं दीं. भला यह भी कोई ट्रेन का सफर है!"

ताजिमा ने शर्म के मारे नजरें नीची कर लीं. बोले, "आप ठीक कहते हैं. आपसे बहुत कुछ सीखना है. यों भी जापान और हिंदुस्तान का क्या मुकाबला. हमारा मुल्क छोटा है और आपका मुल्क महान!"

और ताजिमा की यह बात सुनकर हमारा सिर गर्व से ऊंचा हो गया.

लिहाजा साहबो, कभी जापान जाओ तो बुलेट ट्रेन में बिल्कुल न बैठो. बड़ी वाहियात ट्रेन है. बुलेट ट्रेन में बैठने से बेहतर यही है कि आदमी हवाई जहाज में बैठ जाये. □

• उर्दू से अनुवाद: महावीर

चलो जापान, चलो जापान:

समापन किस्त

बुलेट ट्रेन में कभी न बैठो

● मुज्तबा हुसैन

साहबो, जब से जापान आये हैं, हमें अपने वतन की रेलगाड़ियों की शिद्दत से याद आ रही है. टोक्यो में हमारी आवारागर्दी का एकमात्र जरिया जापानी ट्रेनें ही हैं. यों भी सारा जापान ट्रेनों में भागता फिरता है. हम भी एक रेल से उतरते हैं तो दूसरी [illegible] यह खबर फैल गयी कि मुज्तबा हुसैन का स्कूटर-ऐक्सीडेंट हो गया, और हम सब उसके घर की ओर भागे. मेरे मन में यह शंका उठी कि कहीं यह उसका प्रैक्टिकल जोक न हो, लेकिन उसके घर के सामने कई सवारियां खड़ी थीं—जाहिर था कि लोग-बाग उसे देखने आये हुए हैं यानी खबर सच थी और जब हम सीढ़ियां चढ़कर उसके घर में दाखिल हुए तो देखा कि वह अपने बिस्तर पर पट्टियों में बंधा पड़ा था. उसका लंबा-पतला चेहरा सूजकर किसी कुम्हड़े की मानिंद हो गया था. गाल इस कदर फूल गये थे कि उसकी आंखें बंद हुई जा रही थीं. बड़ी मुश्किल से एक आंख की झिर्री से वह हम सबको देख पा रहा था.

उसने मुस्कराने की कोशिश की, लेकिन खून पिये जोंक की तरह मोटे हो गये होंठों ने उसे अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थता जाहिर की. तब वह बेहद आहिस्ता-आहिस्ता बोला, "गुरु जी, खाली हाथ आये हैं? मरीज की मिजाजपुर्सी के लिए फल..."

कम्बख्त को इस वक्त भी मजाक सूझ रहा है! मेरे होंठों में शब्द आ गये, "साले, हम तो कफन लेकर

कंपनी, नीली, गरज होत

आ रहे थे," लेकिन कमरे में उसके बीवी-बच्चों की मौजूदगी देख हमने अपने होंठ सी लिये. तभी बाहर से उसके एक एम. पी. दोस्त सचमुच फलों का टोकरा लिये आ गये और मुज्तबा को कहना पड़ा, "आपने यह जहमत क्यों उठायी, मुझे कुछ हुआ थोड़े ही है. . ."

लेकिन उसे बहुत कुछ हुआ था. वह कह रहा था कि रात में कर्जन रोड के पास कुछ बदमाशों ने उसे स्कूटर से गिराने के लिए पत्थरों को आड़े-तिरछे लगा दिया था, जिससे वह गिरा और गिरने के साथ ही बदमाश उसके हाथ की कीमती घड़ी खोल ले गये और जेब से पूरी तनखा भी निकाल ले गये. उसे यकीन था कि कमरे में जमा उसके दोस्त उसकी बात का यकीन कर रहे हैं, लेकिन मैं कहना चाहता था कि, "बेटे, इसमें कितने परसेंट तेरे शराब के नशे का कुसूर है!" मुज्तबा मेरी तरफ देखकर मुस्कराया और मैं चुप लगा गया. यह चुप्पी हमारी उसकी दोस्ती का असली राज है. पिछले दस सालों से हम एक ही दफ्तर में काम कर रहे हैं.

मैं निचली मंजिल पर बैठता हूं. मुझसे तेरह सीढ़ियां ऊपर मुज्तबा का कमरा है. अक्सर मैं सोचता हूं कि मैं इन तेरह सीढ़ियों को कितना तय कर पाया हूं. प्रायः हर दिन वह मेरे कमरे में घंटे आध घंटे के लिए आता है या मैं ही उसके यहां हो आता हूं. इन तेरह सीढ़ियों को अक्सर वह टेलीफोन से भी पार कर लेता है. लंच टाइम में प्रायः हम साथ होते हैं, क्योंकि घर से टिफिन लाना न मुझे आता है, न उसे.

दफ्तर में मुज्तबा का नाम लेने पर जो तस्वीर उभरती है, वह कहकहे लगानेवाले एक लतीफेबाज की होती है, बिना लतीफों के मुज्तबा कोई बात नहीं कह सकता. वह लतीफों की दुनिया में रहता है. लतीफे ही ओढ़ता है, लतीफे ही बिछाता है, लतीफे ही गाता है, लतीफे ही गुनगुनाता है, मुज्तबा लतीफों का मूर्त रूप है. मेरी समझ से लतीफे उसकी रचना-प्रक्रिया का अविभाज्य अंग हैं. मैंने बहुत करीब से देखा है कि उसके यहां लतीफा कैसे जनम लेता है. कैसे वह लतीफे के अंग-अंग सहलाकर उसे पालता-पोसता है और फिर कैसे वही लतीफा बढ़कर उसकी रचना बन जाता है. वह स्कूटर चलानेवाले के लिए बने हेलमेट की खरीदारी करने गया. हेलमेट देखकर उसे आइडिया आया कि जरूरते नागहानी इसे बतौर टोकरी भी इस्तेमाल किया जा सकता है. मुझे उसने सलाह दी कि सब्जी खरीदते समय आप इसमें आलू तुलवाकर रख सकते हैं और हेलमेट का यह इस्तेमाल बयान करते-करते थोड़ी देर में क्या सुनता हूं कि मुज्तबा किसी को बता रहा है, "अरे साहब, इसे लिये मैं जामा मस्जिद के सामने खड़ा था कि कई लोग इसमें पैसे डालते हुए निकल गये, यही सिलसिला रहा तो हेलमेट के दाम वसूल हो जायेंगे." गोया हेलमेट न हुआ, बाबा का कमंडल हो गया.

मुज्तबा के ये लतीफे बीरबल या गोपाल भांड़ या तेनालीराम के बारे में नहीं होते. ये बलिया या भोगांव या होशियारपुर जैसी जगहों के बारे में भी नहीं होते, ये तो ठीक सामने के

दोस्त या परिचित या खुद उसके अपने बारे में होते हैं. गरीब की जोरू से तो सभी हंसी-ठट्ठा कर लेते हैं, लेकिन यह मुज्तबा के ही बस की बात है कि उसके लतीफों का लक्ष्य आला अफसर होता है. उसके लतीफे मंत्री या सेक्रेट्री या डायरेक्टर के चपरासी की बाबत नहीं होते, खुद मंत्री या सेक्रेट्री या डायरेक्टर के ही बारे में होते हैं, वह किसी भी बड़े आदमी से मिलकर आयेगा तो बाहर आते-आते उस बड़े आदमी की खाल खींचने लगेगा और बड़े आदमियों से मिलने का उसे खास शौक है. इसी शौक की बदौलत उसने 'चहलकदमी' लिखी.

एक बार मुज्तबा ने आशीष सिनहा को बताया कि कल शाम टाइम्स ऑव इंडिया के एक जल्से में कमलेश्वर से मुलाकात हुई. उत्सुक आशीष ने पूछा कि क्या बातें हुईं. मुज्तबा ने मुंह बनाकर कहा कि बातें क्या होतीं! प्रभाकर द्विवेदी आकर कमलेश्वर को दूसरे कोने में ले गये और घंटे भर तक उनसे चिपके रहे. मैं जब भी उधर से निकला तो 'आशीष सिनहा' लफ्ज ही सुन पाया. बकौल मुज्तबा, इसके बाद ही आशीष ने सदमा बरदाश्त करने के लिए दाढ़ी बढ़ानी शुरू की. ऐसे जोक मुज्तबा की आदत हैं. मुज्तबा का प्रैक्टिकल जोक ही है कि हमारा सारा दफ्तर जानता है कि जो कुछ प्रभाकर द्विवेदी के नाम से छपा है, वह सब मिसेज द्विवेदी का लिखा हुआ है और कौन जाने 'सारिका' में छपा उसका यह रेखाचित्र भी वह मिसेज द्विवेदी का लिखा ही घोषित और प्रचारित करे.

कभी-कभी यह प्रैक्टिकल जोक मुज्तबा को बड़ा महंगा पड़ जाता है, लेकिन मुज्तबा अपने शौक की हर कीमत अदा करता है.

हैदराबाद से मुज्तबा को बेहद प्यार है, दिल्ली में रहते हुए भी वह हैदराबाद में जीता है, अचानक वह गायब हो जायेगा और जब प्रगट होगा तो पता चलेगा कि हैदराबाद गया था, जाने हैदराबाद ने उसे कौन-सी घुट्टी पिला रखी है? बकौल मुज्तबा, हैदराबाद की जमीन लतीफों के लिए बड़ी उपजाऊ है. वहां का माहौल मुज्तबा को रास आता है, वहां बिताये दिनों के लिए उसके मन में नास्टैल्जिया है. वहीं उसने सहमते-सहमते कलम पकड़ना सीखा और वहीं लिखते-लिखते उसने अपने को साहित्य के अखाड़े में मजबूती से जमा लिया.

मुज्तबा का लिखने का ढंग निराला है. तीन इंच चौड़ी कागज की पट्टियों पर लिखना उसे अच्छा लगता है, दिन के तीन बजे के करीब उसे प्रसव वेदना होती है. वैसे वह कभी भी, कहीं भी लिख सकता है. इस दिशा में उसके कोई नाज-नखरे नहीं हैं.

इस सादगी का ही यह नतीजा है कि वह छोटे-छोटे लतीफे सुनाते-सुनाते हास्य-व्यंग्य की बेहतरीन चीजें लिख डालता है. हम लोग पर्फेक्शन के चक्कर में हाथ पर हाथ धरे बैठे रह जाते हैं. मुज्तबा छोटे-छोटे सुखों में जीता है. हम छोटी-छोटी शिकायतों में जीते हैं. हमारी शिकायतें होती हैं कि फलां ने हमें यह बात नहीं बतायी. मुज्तबा हमारे लिए जापान से कुछ नहीं लाया, मुज्तबा ने बड़े साहब से हमारी चुगली लगा दी, वगैरह-वगैरह और मुज्तबा जिन सुखों में मस्त रहता है, वे हैं—किसी होटलवाले बैरे ने उसकी रचना पढ़ ली. हम इस इंतजार में रहते हैं कि कल अचानक हमें हिंदुस्तान का सर्वोच्च लेखक घोषित कर दिया जायेगा. मुज्तबा इतने से ही संतुष्ट है कि उसके किसी दोस्त को उसकी कोई रचना पसंद आ गयी. हमें दस लाख वाली लाटरी का इंतजार है और मुज्तबा किसी दोस्त से सौ रुपए का कर्ज पाकर ही मालामाल है.

▣

उसे कोई बड़ी क्रांति नहीं करनी है. उसके सामने कोई बड़ी प्रतिबद्धता नहीं है. वह तो छोटी-छोटी चुनौतियों के ही लिए जीता है. उसे राह चलते चुनौतियां स्वीकार करने का शौक है. चुनौतियां ढूंढ़ने का उसे व्यसन है. कभी तो वह किसी दीन-हीन को लिये हुए आयेगा और चाहेगा कि आप उसकी सिफारिश फलां नौकरी के लिए कर दें. ब्यौरे में जाने पर पता चलेगा कि बस में उस 'दीन-हीन' से परिचय हो गया है.

मुज्तबा हर-दिल-अजीज है. इसी से कभी-कभी उस पर बेहद गुस्सा आता है, उसका परिचय बड़ों-बड़ों से है. वह उनके यहां ऐसे-ऐसे लोगों को लेकर जा पहुंचता है कि सिर धुनने की इच्छा होती है, लेकिन इस तरह के काम वह पूरी लगन से करता है. मेरा खयाल है कि अगर वह पूरब को पच्छिम से मिलाने की ठान ले तो वह भी कर दिखायेगा, क्योंकि चुनौतियां स्वीकार करने का उसे शौक है.

यह चुनौती ही थी कि वह रोने-गाने वाली कहानियां लिखते-लिखते हंसाने-गुदगुदाने वाली हास्य-व्यंग्य की पुलकियां लिखने लगा. हुआ यूं कि हैदराबाद के उर्दू दैनिक 'सियासत' के हास्य-व्यंग्य के स्तंभ लेखक मियां शाहिद सिद्दीकी की 31 जुलाई, 1962 को मृत्यु हो गयी. तब मुज्तबा अखबार के लिए गंभीर चीजें लिखा करते थे. अखबार का हास्य-व्यंग्य का कालम कुछ दिनों के लिए बंद हो गया. इस बारे में अखबार के एडीटर की जो बातचीत मुज्तबा से हुई, उसमें जनाब को एक चुनौती-सी मिली. चुनौती के जवाब में मुज्तबा ने कालम के लिए कुछ लिखा. डरते-डरते एडीटर ने उसे 12 अगस्त के अंक में छापा, लेकिन एडीटर का डर कुछ ही दिनों में हिरन हो गया, क्योंकि नये व्यंग्यकार को बहुत पसंद किया गया. और इस प्रकार 12 अगस्त का दिन मुज्तबा के लिए उसके लेखन का महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ. तब से आज तक उसने हास्य-व्यंग्य के अलावा और कुछ लिखने के लालच से अपने को पूरी तरह से बचाया है. दिल्ली में रहनेवाले लेखकों के आगे तरह-तरह के लेखन के अनेक प्रलोभन मुंह बाये खड़े रहते हैं. उन प्रलोभनों से बचना मामूली बात नहीं है. मुज्तबा ऐसे प्रलोभनों को निर्ममता से काट फेंकता है. हां, निर्ममता से. लेखन के क्षेत्र में मुज्तबा नितांत निर्मम है. □

● 174/41, डब्ल्यू. ई. ए., नयी दिल्ली-110005

पखवारे की पुस्तकें

■ प्रेम जनमेजय

'व्यंग' का दौर...

हरिशंकर परसाई आजकल 'व्यंग' लिख रहे हैं और 'व्यंग' का शब्दकोश में अर्थ है—विकलांग. संभवतः यही कारण है कि परसाई के नये व्यंग्य-संग्रह का नाम **'विकलांग श्रद्धा का दौर'** है.

वैसे हरिशंकर परसाई 'व्यंग' से कहानी, निबंधों और उपन्यासों की ओर करवट बदल रहे हैं. उनका कहना है—**"मेरी टांग का टूटना भी एक आपातकाल था, जो मेरी मानसिकता पर छाया रहा. इस मानसिकता में मैंने एक से अधिक निबंध और कहानियां लिखीं."** अर्थात परसाईजी ने 'व्यंग' नहीं लिखे, निबंध और कहानियां लिखीं. **'विकलांग श्रद्धा का दौर'** के परिचय में भी इस बात की 'घोषणा' है कि परसाईजी ने कहानियां उपन्यास एवं निबंध लिखे, व्यंग्य की कहीं भी चर्चा नहीं है. एक समय था कि हरिशंकर परसाई व्यंग्य को शूद्र से क्षत्रिय बनाने में संघर्षरत थे. अपने व्यंग्य-संकलन की भूमिका में उन्होंने इस बात की प्रसन्नता भी व्यक्त की थी कि व्यंग्य अब शूद्र से क्षत्रिय मान लिया गया है.

मैं कारण खोजना चाहता हूं कि उनके वक्तव्यों में अब यह विसंगति क्यों है? और उन्हें लेखन के इस मोड़ पर ऐसे वक्तव्य देने की आवश्यकता क्यों पड़ रही है? शाश्वत लेखन पर व्यंग्य करने वाले व्यंग्यकार को 'व्यंग्यकार' नामक सीमित दायरे से निकलकर कहानीकार, उपन्यासकार और निबंधकार कहलवाने की व्यापक इच्छा क्यों जाग्रत हो रही है? **'एक मध्यवर्गीय कुत्ता', 'देशवसियों के नाम संदेश,' 'विकलांग श्रद्धा का दौर', 'तीसरी आजादी का जांच कमीशन'** आदि रचनाओं को क्या निबंध या कहानी के खांचे में फिट किया जा सकता है?

हरिशंकर परसाई राजनीतिक-चेतना से संपन्न साहित्यिक-व्यक्तित्व का नाम है. वह अप्रत्यक्ष-व्यंग्य नहीं करते. शाश्वत लिखने का मोह परसाईजी को नहीं है. विभिन्न राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक दलों की विसंगतियों का चित्रण परसाईजी नाम-चर्चा के साथ करते हैं. चाहे वह मोरारजी देसाई हों, इंदिरा गांधी हों या बहुगुणा. वह चाहे जनता पार्टी हो या इंदिरा कांग्रेस. परसाईजी को रचना के क्षणभंगुर होने का दर्द नहीं व्यापता है.

वस्तुतः परसाईजी का लेखन दो धरातलों पर लिखा गया लेखन है. एक वह जो पत्रकारिता की आवश्यकता के अनुरूप लिखा गया है. (मैं इसे हिंदी व्यंग्य साहित्य का दुर्भाग्य मानूंगा कि इसके दो सिद्धहस्त व्यंग्य लेखक—हरिशंकर परसाई और शरद जोशी को फ्री-लांसिंग की प्रक्रिया में पत्रकारी-लेखन में अपनी ऊर्जा को बांटना पड़ा.) ऐसी रचनाएं सामाजिक घटनाओं पर आधारित हैं. इन रचनाओं का व्यंग्य सामाजिक-राजनीतिक विसंगति पर है. वह मोरारजी देसाई की 'जीवन जल योजना' भी हो सकती है और जनता पार्टी में स्वार्थ के कारण पार्टी टूटने की स्थिति भी हो सकती है. ऐसी रचनाएं तत्काल—सामाजिक घटनाएं जितनी तीव्रता से व्यंग्य के समय को

पाठक तक संप्रेषित कर सकती हैं, उतनी कालांतर में नहीं. ऐसा नहीं है कि इन रचनाओं में हरिशंकर परसाई की दृष्टि मात्र पत्रकार की रही हो, उनका लेखन रूप व्यक्ति को प्रकृति के रूप में ढाल लेता है. **'देशवासियों के नाम संदेश', 'विकलांग राजनीति', 'तीसरी आजादी का जांच कमीशन'—1, 2, 3,'** ऐसी ही रचनाएं हैं.

दूसरे धरातल की रचनाएं व्यक्ति अथवा घटना विशेष के न तो सामयिक दायरे में बंधती हैं और न पत्रकारिता के दृष्टिकोण से अभिव्यक्त होती हैं. इन रचनाओं में परसाईजी का व्यंग्यकार व्यक्तित्व स्वतंत्र होकर उभरता है. वह प्रवृत्तिगत विसंगतियों को उभारकर सामने लाता है. वह चाहे मध्यवर्गीय ढोंग हो **(एक मध्यवर्गीय कुत्ता)** या तटस्थतावादी नपुंसकता **(वह क्या था)**.

एक बात साफ है कि परसाई वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्ट हैं. प्रजातांत्रिक मूल्यों की गिरावट तथा लोकतांत्रिक स्पिरिट की गिरावट, उन्हें चिंतित किये हुए है. वह व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन चाहते हैं. वह क्रांति के समर्थक हैं, मगर भावुक क्रांति का विरोध करते हैं. वह वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था का विरोध करते हैं, तो सही व्यवस्था का संकेत भी देते हैं. परसाईजी का लेखन मात्र विरोध का लेखन नहीं है. वह मात्र विसंगति-चित्रण ही नहीं करते, अपितु सही संगति के स्वरूप को भी चित्रित करते हैं.

परसाईजी ने भूमिका में लिखा है—**"राजनीतिक और व्यक्तिगत विकलांगता की प्रतिक्रियास्वरूप जिस अभिव्यक्ति की प्रेरणा हुई, मैंने उसे पुनरावृत्ति की परवाह किये बिना, प्रकट कर दिया है."** और उन्होंने भूमिका में कही इस बात को रचनाओं में निभाया है. उन्होंने पुनरावृत्ति की परवाह नहीं की है. **'विकलांग श्रद्धा का दौर'** और **'सहानुभूति के रंग'** में एक ही घटना को लगभग दोहराया गया है. □

■ विकलांग श्रद्धा का दौर (व्यंग्य रचनाएं): **हरिशंकर परसाई, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, मूल्य : 16 रुपये**

भद्र हास्य...

हिंदी साहित्य में हास्य और व्यंग्य एक-दूसरे में ऐसे गुंथे हुए हैं कि उन्हें अलग करना कठिन हो जाता है. यही कारण है कि व्यंग्य रचना को भी हास्य-व्यंग्य कहने की परंपरा चल निकली है. वस्तुतः हास्य और व्यंग्य दोनों ही विसंगति के कारण उत्पन्न होते हैं. दोनों का मूल एक है, अंतर प्रभाव का है. यदि विसंगति मात्र हंसाकर रह जाये तो वह 'हास्य' कहलाता है, परंतु विसंगति-चित्रण का प्रभाव आक्रामक और लेखक का दृष्टिकोण प्रहारात्मक हो और रचना कचोट तथा तिलमिलाहट उत्पन्न करे तो 'व्यंग्य' की सृष्टि होती है. कई बार विसंगति चित्रण हास्य और व्यंग्य दोनों की सृष्टि करता है. परंतु व्यंग्य में हास्य का अतिरेक व्यंग्य के प्रभाव को प्रायः कुंद भी कर देता है.

रवींद्रनाथ त्यागी ने हास्य-व्यंग्य लिखा है. हिंदी साहित्य में शुद्ध और शिष्ट हास्य का अभाव है. त्यागीजी की रचनाएं इस अभाव को दूर करती हैं. मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि त्यागीजी ने मात्र 'भद्र हास्य' ही लिखा है. उनके अनेक व्यंग्य ऐसे हैं, जो अपनी प्रहारक शक्ति में किसी से कम नहीं. उनके पास व्यंग्य की दृष्टि है. परंतु उनके व्यंग्य में हास्य का पुट अवश्य रहता है. यही कारण है कि उनके व्यंग्य, प्रभाव में अत्यधिक तीक्ष्ण, प्रहारात्मक नहीं होते.

रवींद्रनाथ त्यागी की भारतीय क्लासिक्स में विशेष गति है. उनके अध्ययन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है. रचना चाहे 'गधा' हो, वह दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम-प्रसंगों का रोचक प्रसंग पाठक के समक्ष निर्मित कर देते हैं. अतीत में लौटना जैसे उनकी विवशता है. इस अर्थ में उनकी प्रवृत्ति डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से बहुत मेल खाती है. **आचार्य द्विवेदी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनका मन अतीत के उत्सवों को साकार देखना चाहता है, अतीत के प्रति चील की दृष्टि रखता है, जो मनोकूल पाते ही झपट्टा मार लेती है.**

रवींद्रनाथ त्यागी वर्तमान और अतीत के सूत्र जोड़ने में बहुत योग्य हैं. उनकी लगभग प्रत्येक रचना में अतीत और वर्तमान का यह संगम मिलता है. इस संगम के फलस्वरूप पाठक रोचकता में बंधा, शुद्ध-हास्य के प्रसंगों में खिलखिलाता अंततः एक अच्छे मूड में उठता है. रवींद्रनाथ त्यागी के हास्य में फूहड़ता नहीं है, जो अच्छी रुचि वाले पाठक के मन में वितृष्णा भरती है, अपितु निश्छलता है जो पाठक को गुदगुदाती है.

त्यागीजी हास्य-प्रसंगों की संरचना के लिए अतीत में घटी प्रख्यात घटनाओं की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं. उन घटनाओं की आज के आधुनिक युग से विसंगति निर्मित करते हैं. इस प्रक्रिया में रवींद्रनाथ त्यागी व्यंग्य के छींटे भी बिखेर जाते हैं : **"हुमायूं बेहद शरीफ इंसान था और लिखने-पढ़ने में इतनी ज्यादा रुचि रखता था कि जब स्वर्गवासी भी हुआ तो पुस्तकालयों की सीढ़ियों से फिसलकर हुआ. इतने शरीफ इंसान को भी सारी उम्र युद्ध करने पड़े, कभी भाइयों से और कभी शेरशाह सूरी से. बाबू जगजीवन राम और बाबू जयप्रकाश नारायण की भांति शेरहशाह सूरी भी बिहार का रहने वाला था और बेहद ईमानदार, कुशल और बहादुर शासक था. जब वह दिल्ली का सुलतान था तो स्थिति यह थी—एक जवान औरत सिर पर टोकरी में अशरफियां भरकर पेशावर से कलकत्ता तक अकेली जा सकती थी. इन दिनों वाली बात नहीं थी कि न अशरफियों का पता चलता और न उस युवती विशेष का."** (एक कानूनी सवाल)

रवींद्रनाथ त्यागी की रचनाओं में संस्मरणों का भी बहुत योगदान है. उनके पास संस्मरणों का जैसे खजाना है, जिसे वह उपयुक्त स्थान पर फिट कर देते हैं. वह संस्मरण, रचना का अंग ही बनते हैं, उनसे कहीं अलग नहीं दिखाई देते हैं.

त्यागीजी के प्रिय पात्रों में—गधा, पर-पत्नी, अफसर विशेष हैं. इनकी विसंगतियों या इनके माध्यम से उत्पन्न विसंगतियों की चर्चा उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर की है. वह स्वयं एक अफसर हैं. अतः अफसरशाही एवं अफसर-जीवन की विसंगतियां उनके सामने खुली किताब के रूप में हैं. इस खुली किताब को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है. इस प्रक्रिया में वह आत्म-व्यंग्य का शिकार भी हुए हैं. और जहां कहीं भी प्रसंग आया है उन्होंने स्वयं को भी नहीं छोड़ा है. आत्म-व्यंग्य की हिंदी साहित्य में बहुत कमी है. परंतु 'भद्र पुरुष' की रचनाएं इस आभाव को दूर करती हैं."

त्यागीजी के लेखन में राजनीतिक व्यंग्य छींटों के रूप में तो मिल जाता है, लेकिन जो तीक्ष्णता परसाई या शरद जोशी के व्यंग्यों में है, वह त्यागीजी में दिखाई नहीं देती है. वह सरकार और नेताओं पर व्यंग्य तो करते हैं, परंतु कभी-कभी और वो भी पूरी तीव्रता के साथ नहीं. वहां सरकार का मजाक उड़ाना लक्ष्य हो सकता है, उस पर आक्रमण करना नहीं. परंतु यह शायद रवींद्रनाथ त्यागी की व्यक्तिगत सीमा है, इसे दोष नहीं माना जा सकता. उनका अपना कहने का अलग अंदाज है और विषय क्षेत्र अलग हैं. □

■ भद्र पुरुष (व्यंग्य रचनाएं): **रवींद्रनाथ त्यागी, प्रकाशक : पराग प्रकाशन, 3/114 कर्ण गली, शाहदरा दिल्ली-32. मूल्य : पंद्रह रुपये.**

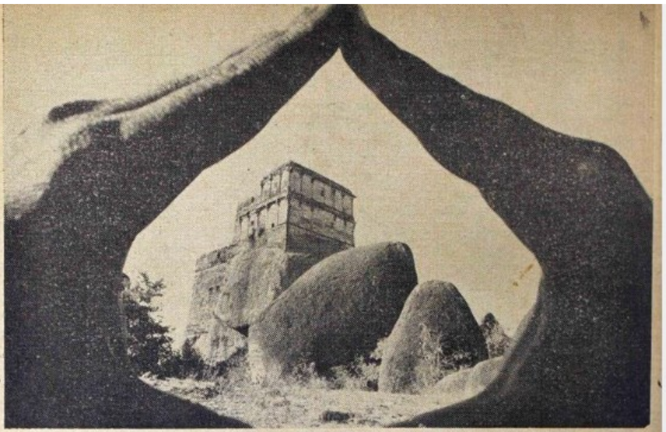

रजनीकांत के छायाचित्र

पथरीले हाशियों में शबनम के फूल

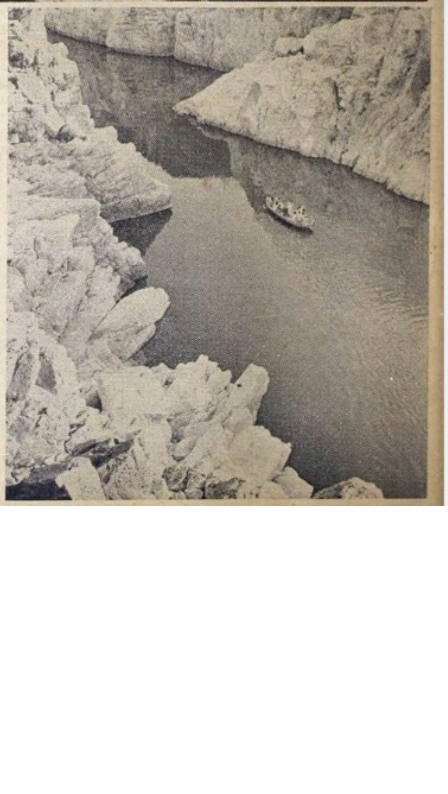

हर बस्ती का अपना चेहरा होता है, मुखौटों के बावजूद, जो किसी न किसी परत के बाद अंततः पकड़ में आ ही जाता है, लेकिन पत्थरों की तो कोई पहचान नहीं होती. उनकी यदि कोई शिनाख्त होती भी, तो वह घिसे हुए शीशे की मानिंद धुंधली और बेआब दीखती, व्यतीत के जख्मों और दाग-धब्बों से भरी हुई—आकृतिहीन, स्वरूपहीन, नीरवता और निदारुणता को पहचानने की कोशिश करती हुई, लेकिन हजारों-हजार साल पहले, चिरकुंवारी नर्मदा के लहरिल पारावार के समानांतर, काल के अंधियारों का भेदन करती, पथरीली करधनी का

हलचल

जो विस्तार पत्थर-शहर जबलपुर के इर्द-गिर्द बिखर गया था, वह अब क्रूर और निर्मम व्यावसायिकता के सरीसृप द्वारा खंड-खंड होता जा रहा है. जबलपुर की वह पुरानी पहचान मिट रही है, इसका एहसास कुकुर-मुत्तों जैसी उग आयी सांस्कृतिक-साहित्यिक संस्थाओं के न तो किसी बुद्धिजीवी को हुआ और न ही किसी राजनेता को, लेकिन टूटते पत्थरों के दर्द को छुआ छायाकार रजनीकांत ने. न जाने कितनी बार देखा था इन पत्थरों को, पत्थरों को तोड़ती-बहती नर्मदा को, मिट्टी पर सिकुड़ी चीटियों को, दरारों में उगी वनस्पतियों को, पाषाणी कारा में कैद स्याह-सफेद आलोक रश्मियों को, बंदरों और छिपकलियों को, लेकिन वह सिर्फ देखना था, उसे अपनी आत्मा में पिरोना नहीं. लेकिन अब, पत्थर-शहर की ममताशून्य उदासीनता के कारण ये पत्थर मर रहे हैं, कैमरे के माध्यम से जन-चेतना की मृत चेतना को दस्तकें देना भी व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगा है. पथरीले बीहड़ों पर उगे आलोक और शबनम के फूल उगकर मुरझा भी जायें, मानवीय संवेदन-हीनता के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता.

रजनीकांत: उम्र बत्तीस वर्ष. यशस्वी छायाकार स्व. शशिन के अनुज, लेकिन कृतित्व में अब अपने समकालीनों से उन्नीस नहीं. टूटते पत्थरों को देखकर पत्थरदिलों में दर्द जागे, इस उद्देश्य से पिछले आठ महीनों तक पत्थरों के चरित्र और स्वरूपों को कैमरे के विभिन्न कोणों से उतारते रहे और दो एकल प्रदर्शनियां आयोजित कीं.

रजनीकांत के छाया चित्रों को देखकर लगता नहीं कि उनके बाहर और भीतर के दरमियान कोई अलगाव है. ये चित्र तो उनकी उस दुनिया का हिस्सा हैं, जो उनकी खुद की निजता है, उनके अपने चेतना-खंड.

भारतपति कर्जन न होते, तो कलचुरि युगीन शिल्प और पुरातत्व नर्मदा के ऊपर बन रहे पुल के पत्थरों के लिए टूट-टूटकर बिछ जाता. चौंसठजोगिनी के मंदिर की मूर्तियों और रानी दुर्गावती के भग्नावशेषों को टूटते और नींव के पत्थरों के रूप में उन्हें इस्तेमाल होते देख, जबलपुर आये कर्जन ने उन्हें खुद देखा था और तभी बना था पुरातत्व रक्षा कानून. लगभग सौ बरस बाद, कानूनों के बावजूद सिर्फ अंधी व्यावसायिकता की खातिर, रानी दुर्गावती का मदनमहल और उसके इर्द-गिर्द बिखरे पथरीले हाशिये बड़ी बेरहमी से तोड़े जा रहे हैं. सर्वभक्षी व्यावसायिकता पत्थरों को भी खा रही है. □

● प्रस्तुति : कैलाश नारद

रजनीकांत: **उम्र बत्तीस वर्ष. यशस्वी छायाकार स्व. शशिन के अनुज, लेकिन कृतित्व में अब अपने समकालीनों से उन्नीस नहीं. टूटते पत्थरों को देखकर पत्थरदिलों में दर्द जागे, इस उद्देश्य से पिछले आठ महीनों तक पत्थरों के चरित्र और स्वरूपों को कैमरे के विभिन्न कोणों से उतारते रहे और दो एकल प्रदर्शनियां आयोजित कीं.**

जो विस्तार पत्थर-शहर जबलपुर के इर्द-गिर्द बिखर गया था, वह अब क्रूर और निर्मम व्यावसायिकता के सरीसृप द्वारा खंड-खंड होता जा रहा है. जबलपुर की वह पुरानी पहचान मिट रही है, इसका एहसास कुकुर-मुत्तों जैसी उग आयी सांस्कृतिक-साहित्यिक संस्थाओं के न तो किसी बुद्धिजीवी को हुआ और न ही किसी राजनेता को, लेकिन टूटते पत्थरों के दर्द को छुआ छायाकार रजनीकांत ने. न जाने कितनी बार देखा था इन पत्थरों को, पत्थरों को तोड़ती-बहती नर्मदा को, मिट्टी पर सिकुड़ी चीटियों को, दरारों में उगी वनस्पतियों को, पाषाणी कारा में कैद स्याह-सफेद आलोक रश्मियों को, बंदरों और छिपकलियों को, लेकिन वह सिर्फ देखना था, उसे अपनी आत्मा में पिरोना नहीं. लेकिन अब, पत्थर-शहर की ममताशून्य उदासीनता के कारण वे पत्थर मर रहे हैं, कैमरे के माध्यम से जन-चेतना की मृत चेतना को दस्तकें देना भी व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगा है. पथरीले बीहड़ों पर उगे आलोक और शबनम के फूल उगकर मुरझा भी जायें, मानवीय संवेदन-हीनता के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता.

रजनीकांत के छाया चित्रों को देखकर लगता नहीं कि उनके बाहर और भीतर के दरमियान कोई अलगाव है. ये चित्र तो उनकी उस दुनिया का हिस्सा हैं, जो उनकी खुद की निजता है, उनके अपने चेतना-खंड.

भारतपति कर्जन न होते, तो कलचुरि युगीन शिल्प और पुरातत्व नर्मदा के ऊपर बन रहे पुल के पत्थरों के लिए टूट-टूटकर बिछ जाता. चौंसठजोगिनी के मंदिर की मूर्तियों और रानी दुर्गावती के भग्नावशेषों को टूटते और नींव के पत्थरों के रूप में उन्हें इस्तेमाल होते देख, जबलपुर आये कर्जन ने उन्हें खुद देखा था और तभी बना था पुरातत्व रक्षा कानून. लगभग सौ बरस बाद, कानूनों के बावजूद सिर्फ अंधी व्यावसायिकता की खातिर, रानी दुर्गावती का मदनमहल और उसके इर्द-गिर्द बिखरे पथरीले हाशिये बड़ी बेरहमी से तोड़े जा रहे हैं. सर्वभक्षी व्यावसायिकता पत्थरों को भी खा रही है. □

● प्रस्तुति : कैलाश नारद

अगला अंक

उस बस्ती को बुलडोजर ध्वस्त कर गया!... उस बस्ती में आग लगा दी गयी!.. लाशें पड़ी हैं!... घायल कराह रहे हैं!... सब परेशान हैं!... न दवा है, न खाना, न कपड़े, न पैसे!... न सिफारिश! न साधन! न साहस!...

इस सूरत में संयोग से अगर आप वहां जा पहुंचें तो क्या करेंगे?

धर्म, जाति, संप्रदाय और वर्ग आदि के संदर्भ में घर, दफ्तर तथा समाज में अपने कर्तव्यबोध को समझने के लिए जरूर पढ़िए—

राम अरोड़ा, हनुमंत मनगटे, अशोक गुप्ता, कमल गुप्त, ऋता शुक्ल, कणा सेन (बंगला) की सशक्त कहानियां.

▣ मेरा प्रिय पात्र

प्रख्यात कथाकार एवं नाटककार **लक्ष्मीनारायण लाल** के प्रिय पात्र से हमेशा याद रहने वाली जीवंत मुलाकात.

▣ सुबह-ए-बनारस

पटना और लखनऊ घूमने के बाद, आइए, **सिद्धेश्वर सिंह** के संग चलें तीर्थधाम बनारस...और देखें कि वहां पर गंगा का जल लाल क्यों है? और कहां आ पहुंचा है सदियों के इतिहास में डूबता-उतराता आज का बनारस.

▣ औरत महज मादा है!

यह शीर्षक पढ़कर एकदम भड़क उठने से पहले यह जरूर जान लें कि आखिर क्या कहना चाहती है, **उमाकांत मालवीय** द्वारा प्रस्तुत अगली पुराण-कथा.

▣ साक्षात्कार

—अंग्रेज कथाकार **इलाचंद्र जोशी** से **प्रमोद सिन्हा** और **ऊषा चौधरी** की खुली बातचीत.

▣ लघु रचनाएं

इकबाल अंजुम, अशोक भाटिया, हरीश गोयल, राकेश भ्रमर, कृष्ण किशोर श्रीवास्तव, राजेंद्र कुमार शर्मा तारादत्त निर्विरोध, चित्रेश, शमीम फारूकी, नवनीत शुक्ला, अस्काईन कॉल्डवेल, पुनत्तिल कुंजब्दुल्ला, बशीर फारूकी, काजी नैयर अली खां की ग़ज़लें, लघुकथाएं, घटना कथाएं और आसपास बिखरी कहानियां.

▣ स्थायी स्तंभ

ज़रिया-नज़रिया, पाठकों का पन्ना, तस्वीर बोलती है, पखवारे की पुस्तकें, हलचल, उनने कहा था आदि स्थायी स्तंभों सहित.

सारिका

16 मार्च, 1982

पत्रिका : जिसे न पढ़कर आप अपना नुकसान करते हैं!

अत्र कुशलम तत्रास्तु!

पत्र विशेषांक

1 अप्रैल, 1982

प्रभावशाली पत्र लिखने के लिए आप प्रायः महंगी पुस्तकों की सहायता लेते हैं. मगर 'सारिका' प्रस्तुत कर रही है, केवल दो रुपये पचास पैसे में विश्व के जाने-माने साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों, संगीतकारों, राजा-रानियों और अनाम लोगों की पत्र लेखन कला के नायाब नमूनों का खजाना.

▣ पत्र विशेषांक—पढ़िए और पढ़वाइए...अपनी प्रति आज ही बुक करवा आइए.